हिन्दी त्रैमासिक

# विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

नगर-संकीर्तन की तैयारी। स्वामी प्रणवानन्द पूजा करते हुए।
(नीचे) पं. रामकिंकरजी प्रवचन करते हुए।

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७० ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● स्वामी प्रणवानन्द

सह-सम्पादक ● सन्तोष कुमार झा

वार्षिक ४) वर्ष ८ अंक २ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

# अनुक्रमणिका



कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
(बोसपाड़ा कलकत्ता के मठ में, फरवरी १९०१)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर-२.

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ८] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७० ★ एक प्रति का १)

## जो कुछ है सो तू ही है

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।।

—तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर लाठी के सहारे चलता है और तू ही नाना रूपों में उत्पन्न हुआ है ।

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४।३

# सरल होने से सरल मिले

एक गुरुजी थे। पास-पड़ोस के बच्चों को पढ़ाकर परिवार का पोषण करते। एक समय उनके यहाँ अन्नप्राशन-संस्कार होना था। वे चिन्तित हुए कि घर में कुछ नहीं है तो अन्नप्राशन-संस्कार कैसे होगा। पर उनके शिष्यों ने उन्हें साहस देते हुए कहा, "गुरुजी, आप चिन्ता न करें। हम लोग मिलकर सारा काम-काज सँभाल लेंगे। जिन जिन चीजों की जरूरत होगी हम लोग आपस में सलाह कर उनका प्रबन्ध कर लेंगे।"

गुरुजी के एक शिष्या थी। उसके पति बहुत बरस पहले चल बसे थे। घर में और किसी का उसे सहारा नहीं था। उसके पास एक गाय थी। उसकी बहुत इच्छा थी कि इस उत्सव के समय वह भी कुछ अपनी ओर से गुरुजी की सेवा करे। पर वह बड़ी गरीब थी। बाहर से कुछ खरीदकर दे नहीं सकती थी। अतः उसने विचार किया कि घर का दूध ही ले जाकर गुरुजी के यहाँ दे आऊँ। उसने दुहनी में गाय का दूध दुहा और गुरुजी के घर ले गयी। गुरुजी ने सोचा था कि वह उत्सव के लिए लगनेवाले पूरे दूध और दही का भार उठा लेगी। पर जब उन्होंने छोटी सी दुहनी में दूध देखा तो वे रुष्ट हो गये। क्रोध में आकर उन्होंने दुहनी एक ओर फेंक दी और उसे कोसते हुए कहा, "तू डूबकर मर क्यों न गयी!" दुहनी फूट गयी और सारा दूध बिखर गया।

शिष्या को गुरुजी की बात सुनकर बड़ा दुःख हुआ। पर उसने सोचा कि जब गुरुजी ने मुझे डूबकर मरने को कहा है, तो उनके आदेश का मुझे पालन करना चाहिए। ऐसा सोचकर वह नदी के पास गयी और जैसे ही वह पानी में छलाँग मारनेवाली थी कि भगवान् उस शिष्या का सरल विश्वास देख प्रसन्न हो गये और उसके सामने प्रकट हुए। भगवान् ने उससे कहा, "मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। दही का यह बर्तन ले जाओ। इसे कभी खाली न कर सकोगी। ज्यों ज्यों इसमें से दही निकालोगी त्यों त्यों यह बर्तन भरता जायगा। तुम्हारे गुरुजी इसे पाकर सन्तुष्ट हो जायेंगे।"

शिष्या गुरुजी के घर वापस लौटी और उन्हें दही का वह बर्तन दे दिया। गुरुजी उस अद्भुत बर्तन को पाकर अत्यन्त अचरज में पड़ गये। जब उन्होंने शिष्या से बर्तन की सारी कथा सुनी, तो वे शिष्या को लेकर नदी के पास आये और उससे कहा, "यदि तुम मुझे भगवान् के दर्शन न कराओगी तो मैं नदी में कूदकर मर जाऊँगा।" शिष्या बड़े धर्मसंकट में पड़ गयी। उसने कातर स्वर में भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् भक्त की पुकार सुनकर प्रकट हो गये, पर गुरुजी भगवान् को न देख सके। तब शिष्या ने भगवान् से कहा, "प्रभो! यदि आप गुरुजी के सामने प्रकट न होंगे तो वे अपने प्राण त्याग देंगे। ऐसी दशा में मैं भी आत्महत्या कर लूँगी।" भगवान् ने भक्त की

इच्छा पूरी की और वे गुरुजी के भी सामने प्रकट हुए, पर केवल एक ही बार के लिए।

इस कथा का तात्पर्य यह है कि भगवान् को सरलता से बड़ा प्यार है। वे स्वयं सरल हैं, उन्हें छल-छिद्र नहीं सुहाता। उन्हें अगर पाना है तो सरल होना होगा। बिना सरल हुए सरल नहीं मिलता।

●


## 'विवेक-ज्योति' के आजीवन सदस्य बनकर आश्रम के पारोपकारिक कार्यों में सहयोगी बनें

हमने जनवरी १९६८ से 'विवेक-ज्योति' के लिए 'आजीवन सदस्य योजना' का प्रारम्भ किया है। इसका शुल्क १००) (एक सौ रुपया) है। इस योजना के अनुसार सदस्य बन जाने पर आपको 'विवेक-ज्योति' आजीवन प्राप्त होती रहेगी। यदि इस बीच आगे चलकर 'विवेक-ज्योति' हर दो महीने में निकलने लगे अथवा भविष्य में यह मासिक हो जाय तो भी आपको बिना अतिरिक्त शुल्क पटाये 'विवेक-ज्योति' नियमित रूप से जीवन पर्यन्त प्राप्त होती रहेगी।

कृपया १००) 'विवेक-ज्योति' कार्यालय को भेजकर इसके आजीवन सदस्य बनें और अपने इष्ट-मित्रों को बनायें और इस प्रकार आश्रम के बहुमुखी पारोपकारिक कार्यों में सहयोगी बनें।

व्यवस्थापक : **'विवेक-ज्योति'**

# गीता प्रवचन—४

## स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

आज हम गीता पर चौथी चर्चा कर रहे हैं। पिछली तीन चर्चाओं में हमने देखने का प्रयास किया कि गीता का कर्मयोग हमें क्या सिखाता है। आज गीता के बाह्य रूप पर थोड़ासा विचार कर लें।

संस्कृत ग्रन्थों केअध्य यन की ऐसी परम्परा है कि सर्व-प्रथम अनुबन्ध-चतुष्टय पर विचार किया जाता है। ये चार अनुबन्ध हैं—(१) विषय, (२) अधिकारी, (३) प्रयोजन और (४) परस्पर सम्बन्ध। यानी कि ग्रन्थ किस विषय का प्रतिपादन करनेवाला है, उसके पढ़ने के अधिकारी कौन हैं, पढ़ने का क्या प्रयोजन है और विषय एवं ग्रन्थ का परस्पर सम्बन्ध क्या है। जब गीता के सन्दर्भ में हम इस अनुबन्ध-चतुष्टय पर विचार करते हैं तो गीता का माहात्म्य बतानेवाले दो श्लोक आँखों के सामने आते हैं:

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीम् अष्टादशाध्यायिनीम्
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्‌गीते भवद्वेषिणीम्॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इनका भावार्थ इस प्रकार होगा--

अहो स्वयं भगवान् प्रबोधित करते हैं जिससे अर्जुन को,
रचा पुराण-व्यासमुनि ने हैं मध्य महाभारत के जिसको।
अद्वैतामृत-वर्षक भवरुजहारिणि भगवद्गीते अम्बे,
अष्टदशाध्यायिनि जननी मैं ध्यान करूँ तुझ पर जगदम्बे ॥
उपनिषद् हैं धेनु, बछड़ा पार्थ, दोग्धा नन्दनन्दन ।
दुग्ध गीतामृत महत् यह पान करते हैं सुधीजन ॥

उपर्युक्त पद्यों से गीता के अनुबन्धों पर प्रकाश पड़ता है। उपनिषदोक्त ब्रह्म-जीव का अद्वैत या एकत्व ही इसका विषय है। तभी तो गीता को 'अद्वैतामृतवर्षिणी' कहा। भव-व्याधि को नष्ट करना इसका प्रयोजन है, इसीलिए यह 'भवद्वेषिणी' कहलायी। भव-व्याधि से मुक्त होने की इच्छा रखनेवाले सुधीजन--विवेकीजन इसके अधिकारी हैं। विषय और ग्रन्थ का परस्पर-सम्बन्ध प्रतिपाद्य और प्रतिपादक का है। इस छोटे से पद्य में गीता के रूप पर बहुत कुछ कह दिया है। भगवान् नारायण ने स्वयं पृथा-पुत्र अर्जुन को प्रबोधित किया। अर्जुन का चित्त भ्रमित था। भगवान् उसके भ्रम को अद्वैतामृत की वर्षा कर दूर करते हैं। व्यास इस अमत को लेकर १८ अध्याय वाले ग्रन्थ की रचना करते हैं।

कुछ लोग कहा करते हैं कि आज हमें गीता जिस रूप में प्राप्त है, बिलकुल उसी रूप में वह भगवान् कृष्ण के मुख से निकली थी। पर यह कल्पना ठीक नहीं मालूम होती। गीता के वर्तमान रूप में ७०० श्लोक हैं। यदि

वार्तालाप की गति से भी पढ़ा जाय, तो गीता का पूरा पाठ करने में लगभग डेढ़ घंटे लगेंगे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गीता के श्लोकों को यदि अक्षरशः कृष्णार्जुन-संवाद मान लिया जाय, तो यह संवाद डेढ़ घंटे चलता रहा। हम पहले अध्याय में पढ़ते हैं कि युद्ध के प्रारम्भ की समस्त तैयारियाँ हो चुकी थीं। दोनों ओर से शंख फूंके जा चुके थे। नगाड़े और ढोल पीटे जा चुके थे। मृदंग और बिगुल आदि बजाये जा चुके थे। इसके बाद अर्जुन श्रीकृष्ण से रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलने को कहता है। कृष्ण रथ को अर्जुन की इच्छानुसार बीच में ले जाते हैं और अर्जुन विषाद को प्राप्त होता है। अर्जुन स्पष्ट कह देता है कि वह युद्ध नहीं करना चाहता। योगिराज कृष्ण को तो देखिये—अर्जुन की बात सुनकर माथे पर कोई सिकुड़न नहीं। वे जानते हैं कि अर्जुन यदि युद्ध न करे, तो पाण्डवगण कौरवों को परास्त न कर सकेंगे, फिर भी अर्जुन की दुर्बलतायुक्त वाणी सुनकर वे घबराते नहीं। बल्कि मानो मुस्कराकर वे अर्जुन से कहते हैं (२।१०)–

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥

यहाँ पर यह 'प्रहसन्निव' शब्द बड़े महत्त्व का है। कृष्ण अर्जुन के सारे विलाप को मानो हँसकर एक ओर ठेल देते हैं। इससे अधिक भीषण परिस्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती कि अर्जुन युद्ध करने के लिए राजी नहीं

हो रहा है। देश-देशान्तर से योद्धागण आकर युद्ध के लिये बिलकुल तैयार खड़े हैं। एक संकेत मात्र बाकी है कि युद्ध शुरू हो जायगा। ऐसी विषम परिस्थिति में अर्जुन युद्ध से-- अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ना चाहता है। वह कहता भले हो कि उसके हृदय में स्वजनों और गुरुजनों को देखकर करुणा उपजी है, पर असल में वह घबड़ा गया है और रोगी की तरह प्रलाप करने लगा है। कृष्ण अर्जुन के मानसिक दौर्बल्य रूपी रोग को भाँप लेते हैं और उसको दूर करने के लिए गीता का उपदेश करते हैं। कल्पना कीजिए कि कितनी देर तक यह बातचीत चलती रही होगी। यदि उपर्युक्त हिसाब से डेढ़ घंटा मानें तो मतलब यह हुआ कि दोनों ओर की सेनाएँ शंख और बिगुल फूँककर डेढ़ घंटे तक तमाशा देख रही हैं कि बीच में जाकर कृष्ण और अर्जुन क्या कर रहे हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। लगता यही है कि बहुत अधिक हुआ तो आधा घंटे में कृष्ण ने अर्जुन को समझाकर युद्ध के लिए राजी कर लिया।

फिर एक बात और। यदि गीता के श्लोकों को शब्दशः कृष्ण और अर्जुन के मुँह से निकला मानें, तो यह भी फिर मानना पड़ेगा कि कृष्ण और अर्जुन दोनों कवि थे जो बातें भी पद्यबद्ध करते थे। यही नहीं, संजय और धृतराष्ट्र भी फिर कवि की उपाधि प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि उन्होंने भी छन्दोबद्ध भाषा का प्रयोग किया। सामान्य विचार की दृष्टि से यह सम्भावना भी उचित नहीं मालूम पड़ती।

इस सबका निष्कर्ष यह हुआ कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तत्कालीन बोलचाल की भाषा में समझाया, उसकी मानसिक दुर्बलता को दूर किया और उसे युद्ध में प्रवृत्त किया। श्रीकृष्ण के इस उपदेश रूपी उपादान को लेकर व्यासमुनि ने 'गीता' नामक ग्रन्थ की रचना कर डाली ताकि कृष्ण और अर्जुन के संवाद का लाभ संसार की समस्त मानव-जाति को मिल सके। तभी तो व्यास की प्रशंसा में कहा है–

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्र नेत्र ।
येन त्वया भारत तैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥

लो प्रणाम, हे व्यास! हमारे, खिले कमलदल नयन तुम्हारे।
लेकर तैल महाभारत का किया प्रज्वलित दीप ज्ञान का ॥

ऊपर के एक पद्य में गीता को उपनिषद्रूपी गायों का दुग्धरूपी अमृत कहा। तात्पर्य यह कि गीता उपनिषदों का निचोड़ है। जिस प्रकार गाय अपने भीतर के सार को अपने बछड़े के प्रेम से द्रवित हो दूध के रूप में प्रकट करती है, उसी प्रकार उपनिषद्रूपी गायें अर्जुनरूपी बछड़े के प्रति स्नेह और करुणा से विगलित हो, गीता-दुग्धामृत का दान कर रही हैं। बिना बछड़े के गाय नहीं पन्हाती, उसके थनों में दूध नहीं उतरता। गाय के पन्हाने पर भी, यदि ग्वाला न हो तो दूध नहीं निकाला जा सकता। इसी प्रकार, उपनिषद्रूपी गायों को पन्हाने के लिए अर्जुन-

रूपी बछड़े की आवश्यकता पड़ी। साधारण गाय को तो साधारण ग्वाला दुह ले सकता है। पर उपनिषद्‌रूपी गायों को दुहने के लिए असाधारण ग्वाले की आवश्यकता होती है और ऐसा ग्वाला हमें गोपालनन्दन के रूप में प्राप्त होता है। यह ग्वाला उपनिषद्‌रूपी गायों का दोहन कर अमृत-दुग्ध गीता के रूप में रख जाता है। इस अमृत-दुग्ध के पान के अधिकारी कौन हैं?——सुधीजन। जो विवेकी हैं, जिनके हृदय में इस दूध को पीने की अभिलाषा है, जिनकी बुद्धि में इस दुग्धपान की क्षमता हैं, वे इसके अधिकारी हैं——वे गीता-ज्ञान को प्राप्त करने के सुयोग्य पात्र हैं।

गीता को दुग्धामृत कहने का एक और अभिप्राय हो सकता है। विशुद्ध अध्यात्म-विद्या केवल अमृत है और केवल कर्म जल है। दोनों ही अपने आप में मनुष्य के लिए अपर्याप्त हैं। मनुष्य को दोनों चाहिए——उसे अमृत भी चाहिए, साथ ही मर्त्यभाव भी। केवल अमृत से सृष्टि का कार्य नहीं होता। केवल मृत्यु से जगत् की स्थिति नहीं होती। अमृत और मृत्यु का समन्वय ही जीवन है। स्वर्ग का अमृत और पृथ्वी का जल जब ये दोनों मिलते हैं तब दूध बनता है। केवल जल पीकर कोई जीवित नहीं रह सकता। पर केवल दूध पीकर जीवित रहना सम्भव है, क्योंकि दुग्ध में अमृत का भी अंश मिला है। ठीक इसी प्रकार, गीता में भी ज्ञानरूपी अमृत और कर्म-रूपी जल का मेल है। गीता की इसी विशेषता के कारण

उसे दुग्धामृत कहा। ज्ञान और कर्म का जैसा अपूर्व समन्वय गीता में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। तभी तो गीता को ब्रह्मविद्या कहा और साथ ही योगशास्त्र भी। ब्रह्मविद्या शास्त्र है, ज्ञान है; योगशास्त्र कर्म है, कला है। अध्यात्म और व्यवहार का अपूर्व समन्वय और सन्तुलन यह गीता है।

जब हम अध्यायों की समाप्ति पर पुष्पिका को पढ़ते हैं तो क्या बोध होता है? प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर हम पढ़ते हैं—"ॐ तत्सदिति। श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे...।" ॐ तत्सत्—यह पहला वाक्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। इस जड़ सृष्टि के अन्तराल में विश्व का नियमन करनेवाली एक परम बोधमय सत्ता विद्यमान है। यह सारा पसारा उस सत्ता का ही है। ईश्वर कोई व्यक्ति-विशेष नहीं जो आसमान में कहीं पर बैठे हों। यह विराट् अवस्थिति, यह निरन्तर सत् का—अस्तित्व का भाव, यह शासन करनेवाला सबमें अनुस्यूत तत्त्व—यही ईश्वर है। इसी को बुद्ध ने 'धम्म' के नाम से पुकारा। यह ईश्वर अनन्त नियमों का पुंज है। वहाँ आकस्मिकता नामक कोई चीज नहीं। सारी घटनाएँ, विश्व के समस्त क्रम नियमों से बँधे हैं। नियमों को न जानने के कारण हम कमजोर होते हैं। इन्हीं नियमों की खोज जब बाहर के यानी भौतिक धरातल पर की जाती है तो उसे 'साइन्स' या विज्ञान की प्रक्रिया कहते हैं। जब मन के धरातल पर

इन नियमों का अनुसन्धान किया जाता है, तो हम उसे अध्यात्म की प्रणाली के नाम से पुकारते हैं।

तो, कहा गया कि गीता के अध्यायों की पुष्पिका सर्वप्रथम उस ईशन करनेवाले ईश्वर के अस्तित्व की घोषणा करती है। फिर उसके बाद कहा—'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु'—'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् में'। यहाँ पर गीता को उपनिषद् कहा। इसके पूर्व बताया था कि गीता उपनिषद्रूपी गायों का दूध है, यानी उपनिषदों का निचोड है। यहाँ कहते हैं कि केवल निचोड नहीं बल्कि गीता उपनिषद् ही है। और कैसा उपनिषद्?—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीभगवान् के द्वारा गाया हुआ। उपनिषद् शब्द संस्कृत में स्त्रीलिंग में चलता है, इसीलिए उसके विशेषण में 'भगवद्गीत' न कह 'भगवद्गीता' कहा है। 'गीता' का मतलब 'जो गायी गयी हो'। तो, श्रीभगवान् स्वयं जिस उपनिषद् का गायन करते हैं उसी का नाम हुआ गीता। यह माहात्म्य है गीता का। और वास्तव में गीता इतना पूर्ण शास्त्र है कि यदि उसे ईश्वर-प्रोक्त कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

फिर, उसके बाद पुष्पिका में कहा कि गीता ब्रह्मविद्या है, और योगशास्त्र भी। हमने ऊपर कहा कि गीता अध्यात्म और व्यवहार, शास्त्र और कला दोनों का अत्युत्तम मेल करती है। पहले हम कह चुके हैं कि योग की दो सुन्दर परिभाषाएँ गीता में द्रष्टव्य हैं। एक परिभाषा यदि ज्ञानपरक है, अध्यात्मपरक है, शास्त्रपरक है,

तो दूसरी परिभाषा कर्मपरक है, व्यवहारपरक है, कला-परक है। एक में कहा--'समत्वं योग उच्यते' (२।४८), तो दूसरे में कहा--'योगः कर्मसु कौशलम्' (२।५०)।

हम कह आये हैं कि कृष्ण युगाचार्य हैं। वे महान् क्रान्तिकारी हैं। उनकी कथनी और करनी में कहीं कोई पार्थक्य नहीं है। जैसा उपदेश करते हैं, वैसा ही आचरण भी। उन्होंने अर्जुन को द्वन्द्वों में बुद्धि को समतौल करने के लिए कहा। वे स्वयं इसके उदाहरण हैं। कृष्ण का जीवन उनके उपदेशों पर भाष्य है। जहाँ कहीं मैं गीता के किसी श्लोक को समझने में असमर्थ होता हूँ तो कृष्ण के चरित्र की ओर देखता हूँ कि उन्होंने वैसी परिस्थितियों में क्या किया। बस, उस श्लोक का मर्म मेरी आँखों के सामने स्पष्ट हो जाता है। तो, मैं कह रहा था कि कृष्ण का जीवन उनके उपदेशों की प्रांजल टीका है। जरा देखें कृष्ण को। अर्जुन कहता है--मैं युद्ध नहीं करूँगा। सुनकर कृष्ण विचलित नहीं होते। उनके अधरों पर वही स्मित है जो गोपियों को देखकर प्रकट होता था। वे उसी कोमलता और साथ ही दृढ़ता के साथ अर्जुन को समझाते हैं जिस कोमलता के साथ वंशी में धुन फूँकते थे और जिस दृढ़ता के साथ बाँसुरी के पोरों पर अपनी अँगुलियों को नचाते थे। वे कोमल हैं, और कठोर भी। तभी तो कवि गाता है-

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।<br>
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

भक्त-कल्पद्रुम, दण्डपाणि हे ! कृष्ण, ज्ञानमुद्राधारी हे !
गीतामृत दोहनकर्ता हे ! बारम्बार प्रणाम तुम्हें हे !
कृष्ण हे, वसुदेवनन्दन, कंसहर, चाणूरमर्दन !
देवकी आनन्ददाता, हे जगद्गुरु तुम्हें वन्दन !

कृष्ण कल्पद्रुम-कोमल हैं, तो दण्ड-कठोर भी; भक्तजन-सुलभ हैं, तो कठोर ज्ञानमुद्राधारी भी ! वे वसुदेव-देवकी के लिए कोमल-वपु आनन्ददाता हैं तो कंस और चाणूर के लिए कठोर मर्दनकारी भी ! तभी तो पाण्डवों को जैसा निश्छल प्यार दिया, वैसा कौरवों के लिए वे अभिशाप भी बने । कौरवों के घोर भँवर से पाण्डवों की विजय-नौका को बचाकर पार ले गये । वे तो भक्तजनों को पार ही उतारा करते हैं । जो भी उनकी शरण में जाता है उसका हाथ थाम लेते हैं और उसकी तरी को निर्विघ्न उस पार पहुँचा देते हैं । कवि कहता है–

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला ।
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी ।
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥

भीष्म द्रोण दो तट हैं जिसके, नीर जयद्रथ है जिसमें ।
नीलोत्पल गान्धारराज हैं, शल्य ग्राहवत् है जिसमें ।
कृप की धारा बहती जिसमें, कर्ण ऊर्मियाँ है जिसमें ।
हैं विकर्ण अश्वत्थामा सम घोर मकर रमते जिसमें ।

बना भँवर जिसमें दुर्योधन, समर-नदी वह बड़ी विकट ।
हुए पार पाण्डवगण उसके, बने कृष्ण उनके केवट ॥

यह गीतागायक कृष्ण का महिमामय रूप है जो महाभारत के माध्यम से हमारे समक्ष प्रकट होता है । गीता महाभारत के ही अंश-रूप में हमें प्राप्त होती है । कुछ लोग कहते हैं कि यह महाभारत का अंश नहीं, बाद में इसकी रचना कर इसे महाभारत में डाल दिया होगा । उनके मतानुसार गीता महाभारत में क्षेपक है, प्रक्षिप्त है । परन्तु ऐसे भी धुरन्धर विद्वान् हैं जो उपर्युक्त राय को नहीं मानते और कहते हैं कि गीता स्वतंत्र रूप से लिखी न जाकर, महाभारत के अंश-रूप में ही लिखी गयी है । वे अपने कथन की पुष्टि में प्रमाण देते हुए कहते हैं कि दोनों ग्रन्थों की भाषाएँ समान हैं । यदि दोनों अलग-अलग काल की रचनाएँ होतीं तो दोनों की भाषा में अन्तर अवश्य रहता । भाषाओं का एक प्रवाह होता है। भाषाओं की अपनी एक शैली होती है। पचास वर्षों में भाषा में शैली और प्रवाह की दृष्टि से कुछ तो परिवर्तन अवश्य हो जाता है । हम अंग्रेजी भाषा को ले लें, या हिन्दी को ही लें । पिछले पचास वर्षों में कितना अन्तर शैली में मालूम पड़ता है । परन्तु महाभारत और गीता का अध्ययन करने पर ऐसा नहीं पता चलता कि कहीं भाषा का प्रवाह बदला हो । जो हो, हमें इस पण्डिताऊ ऊहापोह में नहीं पडना है । हमारे लिए इतना जान लेना पर्याप्त है कि गीता महाभारत में क्षेपक नहीं है,

बल्कि उसका अपना अंश है। यदि महाभारत दुग्ध है तो गीता उससे प्राप्त नवनीत। कवि गाता है--

पाराशर्यवच:सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटम् ।
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ॥

निर्मल कमल महाभारत का उपजा व्यास-वचन-सरवर में।
गीता तीव्र सुरभि है जिसकी, आख्यानों का केसर जिसमें।
हरिप्रसंग से पूर्ण खिला जो, मुदित सुजन-अलि करते पान
नित्य जिसे, वह कलिमलहारी करे सभी का अति कल्याण ॥

यहाँ पर कवि महाभारत की उपमा कमल से देता है और गीता को उसकी सुरभि बतलाता है। एक और बात। महाभारत में हम अनेकों कहानियाँ और आख्यान पाते हैं। पर गीता में केवल सिद्धान्तों की चर्चा है। फिर, हम यह भी देखते हैं कि गीता में जिन सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है उन्हीं को सरल ढंग से समझाने के लिए महाभारत की आख्यायिकों का विस्तार हुआ है। इसलिए मैं महाभारत को गीता की टीका मानता हूँ। हमने पहले कहा कि गीता वेदों की उत्तम टीका है जिसकी रचना वेदों को नि:श्वसित करनेवाले साक्षात् भगवान् करते हैं। और गीता की टीका है महाभारत। गीता का कोई भी श्लोक ले लें, उसकी स्पष्ट और सुविस्तृत व्याख्या में आपको महाभारत का कोई न कोई आख्यान अवश्य मिल जायगा। उदाहरण के लिए वह श्लोक ले लें जहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं (९।३२)–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
--'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य या शूद्र जो भी पापयोनि के अन्तर्गत माने जाते हैं वे भी मेरा आश्रय ग्रहण कर परमगति को प्राप्त होते हैं।'

इसे मैं श्रीकृष्ण का दूसरा क्रान्तिकारी विचार कहता हूँ। पहला तो हमने यह देखा था कि प्रत्येक कर्म ही यज्ञ बन सकता है--भगवान् की पूजा बन सकता है। अब यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण उस परमगति का दरवाजा सबके लिए खोल देते हैं। भले ही परम्परा कतिपय वर्ग के लोगों को पापयोनि माने, पर कृष्ण इसे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं। वे इस परम्परा का विरोध करते हैं और कहते हैं कि जो भी सच्चे मन से भगवान् की शरण जाता है वही परमपद का अधिकारी है। इसके दृष्टान्तस्वरूप हम महाभारत में 'व्याधगीता' के प्रसंग में एक आख्यान पाते हैं जहाँ ब्राह्मणकुमार तपस्वी कौशिक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करनेवाली महिला से ज्ञान प्राप्त करता है तथा बाद में मिथिला जाकर धर्मव्याध नामक कसाई से वेदान्त सम्बन्धी अपनी शंकाओं का समाधान कराता है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर जाजलि नामक ऋषि तुलाधार वैश्य से जीवन और अध्यात्म के रहस्य की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि महाभारत गीता पर एक विशद टीका है। और अभी हमने कहा कि उसका दृष्टि-

कोण अत्यन्त क्रान्तिकारी है। महाभारत काल के भारत की कल्पना कीजिए, जब प्रतीत होता है कि धर्म के क्षेत्र में पर्याप्त अन्धविश्वास विद्यमान था, जब धर्म के नाम पर लोगों का शोषण होता था। इसका अन्दाज इसी से लग जाता है कि स्त्री, वैश्य और शूद्र को पापयोनि कहा जाता था। कृष्ण इस धार्मिक और सामाजिक शोषण के विरोध में उठ खड़े होते हैं और घोषणा करते हैं कि परमपद को पाने का अधिकार मनुष्य को जन्म से नहीं मिला करता। एक विशेष वर्ण में पैदा हो जाने मात्र से मनुष्य को ज्ञान का अधिकार नहीं मिल जाता। यह अधिकार तो मनुष्य अपने कर्मों और अपनी बुद्धि से प्राप्त करता है। इसी के दृष्टान्तस्वरूप हम महाभारत में उस महिला, उस तुलाधार वैश्य और उस धर्मव्याध शूद्र को ज्ञान का अधिकारी देखते हैं और यह भी देखते हैं कि वे अपने कर्मों को यज्ञ बनाकर इतने ऊपर उठ गये कि उन्होंने ब्राह्मण तपस्वी कौशिक और जाजलि मुनि को ज्ञान के उपदेश देने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

तभी तो कृष्ण अर्जुन को अपने ही कर्म में लगे रहने का उपदेश करते हैं। अर्जुन ने युद्ध को घोर कर्म माना। वह भिक्षा द्वारा जीवन-यापन को श्रेयस्कर मानने लगा था। भगवान् उसकी भ्रान्ति को दूर करते हुए कहते हैं (१८।४५-४६)—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

——'अपने अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य सिद्धि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में निरत रहकर वह सिद्धि किस प्रकार पाता है वह उपाय सुन। जिस परमात्मा से समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा विश्व व्याप्त है उसकी अपने कर्मों के द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता भगवती उस संसिद्धि की प्राप्ति के लिए सभी का आह्वान करती है। उसकी दृष्टि में जीवन के परम प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए पुरुष या स्त्री का भेद नहीं है, और न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का ही भेद है। उसके लिए कोई गोरा और काला नहीं है, उसकी दृष्टि में देश और धर्म का कोई विभेद नहीं है। जो भी सुधी है, विवेकी है, इस संसार में रहते हुए भी संसार को अपना न मान, उस परमेश्वर को ही अपना मानता है, वही गीताज्ञान का अधिकारी है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव भक्तों को उपदेश देते हुए कहा करते थे—— संसार में रहो, पर संसार तुममें न रहे। नाव जल में रहे यह ठीक है, पर जल नाव में रहे यह ठीक नहीं है। जिसकी बुद्धि में ऐसी धारणा हो गयी है, वह सुधी है और वही गीतारूपी दुग्धामृत के पान का अधिकारी है।

(क्रमशः)

# स्वामी विज्ञानानन्द

## डा. नरेन्द्र देव वर्मा

एक बार कलकत्ता के बेलघरिया मुहल्ले का एक छात्र हरिप्रसन्न श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन करने के लिए दक्षिणेश्वर आया। श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में छोटी चौकी पर आसीन थे और भक्तों को धर्मोपदेश कर रहे थे। हरिप्रसन्न उन्हें प्रणाम कर एक कोने में बैठ गया और युगावतार के वचनामृत का पान करने लगा। यथासमय भक्तगण उठने लगे पर हरिप्रसन्न वहाँ बैठा रहा। श्रीरामकृष्ण मृदु मुस्कान के साथ हरिप्रसन्न का निरीक्षण करते रहे और जब वह उनसे विदा लेने को उठा तो वे बोले, "तुम कुश्ती लड़ सकते हो? मेरे साथ लड़ सकते हो? देखूँ, एक दाँव तो दिखाओ।" उस समय हरिप्रसन्न पहलवान के समान दिखायी देते थे। उनका शरीर पर्याप्त पुष्ट और सुगठित था। वे प्रतिदिन दो सौ दण्ड और अढ़ाई सौ बैठक लगाया करते थे और अखाड़े में कुश्ती भी लड़ा करते थे। पर दक्षिणेश्वर के सन्त की बात सुनकर वे सोचने लगे, "वाह रे वाह, मैं कैसे साधु के दर्शन के लिए आया हूँ! यह साधु तो कुश्ती लड़ना चाहता है!" फिर वे श्रीरामकृष्ण से बोले, "जी हाँ, कुश्ती लड़ना जानता हूँ।" तब श्रीरामकृष्ण उठ खड़े हुए और पहलवानों के समान ताल ठोकते हुए हरिप्रसन्न की

ओर बढ़ने लगे। उन्होंने हरिप्रसन्न के हाथों को पकड़ लिया और ठेलते हुए दीवार की ओर ले गये। हरिप्रसन्न को प्रतीत हुआ कि युगावतार की देह से कोई अलौकिक शक्ति निकलकर उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी है। उनका शरीर रोमांचित हो उठा। वे अवश हो गये और एक अकथनीय आनन्द का ज्वार उनके हृदय में उठने लगा। तब श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें मुक्त करते हुए कहा, "क्यों हार गया न ?" और इसके बाद वे हरिप्रसन्न की पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले, "अरे, बार-बार आना, एक बार आने से क्या होगा ?"

यही हरिप्रसन्न कालान्तर में स्वामी विज्ञानानन्द के नाम से विख्यात हुए। हरिप्रसन्न बेलघरिया निवासी श्रीयुत तारकनाथ चट्टोपाध्याय के पुत्र थे तथा उनका जन्म २८ अक्तूबर, १८६८ को इटावा में हुआ था। उनके पिता सरकारी कर्मचारी थे तथा नौकरी के सिलसिले में उन्हें अनेक नगरों में रहना पड़ा था। हरिप्रसन्न की प्रारम्भिक शिक्षा काशी में सम्पन्न हुई तथा इसके बाद वे बेलघरिया चले आये। कुछ ही समय बाद सन् १८८१ में उनके पिता का देहावसान हो गया। वे अपने ताऊ की छत्रछाया में पलने लगे। सन् १८८२ में उन्होंने कलकत्ता के हेयर स्कूल में नाम लिखा लिया और तीन साल के बाद सेंट जेवियर्स कालेज में एफ. ए. की पढ़ाई करने लगे। यहाँ शरत (स्वामी सारदानन्द), वरदा सुन्दर पाल और प्रसिद्ध पत्रकार रामानन्द चट्टोपाध्याय हरिप्रसन्न के साथ पढ़ा करते

थे। एफ. ए. के बाद हरिप्रसन्न पटना चले आये तथा यहाँ से बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने के लिए पूना चले गये। वे तीक्ष्ण बुद्धि वाले और बड़े मेधावी छात्र थे तथा विद्यार्थी-जीवन में त्रिसन्ध्या गायत्री का पाठ किया करते थे।

हरिप्रसन्न बाल्यावस्था से ही अतीव सदाचारी और अन्तर्मुखी थे। एक बार उनकी माता नकुलेश्वरी देवी ने उन पर झूठ बोलने का आरोप लगा दिया। वे बड़े क्रुद्ध हुए और प्रतिवाद करने लगे कि उन्होंने मिथ्या भाषण नहीं किया है। पर माता को उनके वचनों पर विश्वास नहीं हुआ। तब वे बोले, "अगर मैंने झूठ बोला हो तो मैं ब्राह्मण नहीं।" यह कहकर उन्होंने अपना यज्ञोपवीत निकाल फेंका। माता किसी भावी अकल्याण की आशंका से काँप उठीं। दूसरे ही दिन हरिप्रसन्न के पिता के देहावसान का संवाद पहुँचा। माता दुःख के पारावार में डूब गयीं और रोते-रोते हरिप्रसन्न से कहने लगीं, "तेरे ही अभिशाप से यह घटित हुआ है।" इसी प्रकार एक अन्य घटना से भी हरिप्रसन्न की आस्तिकता का पता चलता है। उन्होंने सुन रखा था कि बन्दर मरते समय राम का नाम लिया करता है। एक बार उन्हें समीप के बगीचे में बन्दूक चलने की आवाज सुनायी पड़ी। वे उत्सुकतावश वहाँ देखने के लिये पहुँचे। उन्होंने देखा कि एक बन्दर बन्दूक की गोली से घायल हो गया है और दोनों हाथ जोड़कर रो रहा है। हरिप्रसन्न को विश्वास हो गया

कि सचमुच बन्दर राम का नाम लेकर प्राण-त्याग करता है।

हरिप्रसन्न ने श्रीरामकृष्ण देव को १५ सितम्बर सन् १८७९ में पहली बार देखा था। उस दिन श्रीरामकृष्ण केशवचन्द्र सेन से मिलने बेलघरिया के उद्यान में आये थे। जब हरिप्रसन्न को उनके आगमन की सूचना मिली तब वे अपने समवयस्क मित्रों के साथ खेल रहे थे। यद्यपि धोती के अतिरिक्त उनके शरीर पर अन्य कोई वस्त्र नहीं था फिर भी वे उत्सुकतावश परमहंस देव को देखने के लिए तत्पर हो गये। किन्तु प्रथम दर्शन की स्पष्ट स्मृति वे नहीं रख सके। दूसरी बार सन् १८८३ की १८ फरवरी को गोविन्द मुखर्जी के घर में उन्होंने पुनः श्रीरामकृष्ण को देखा था। इस दर्शन की याद करते हुए उन्होंने कालान्तर में बताया था, "वहाँ जाकर मैंने देखा कि ठाकुर श्वेत परिधान में भावाविष्ट हो खड़े हैं। वह एक अद्भुत दृश्य था! उनके मुख का भाव कैसा तो था! पका फूट फटने पर जैसा दिखता है, कुछ-कुछ वैसा ही। मुख को विकृत नहीं कहा जा सकता था। ऐसा लगता था कि मानो उनके शरीर की सारी शक्ति ऊपर की दिशा में उठ गयी है। उनके सभी दाँत दिख रहे थे। उनकी आँखें ऐसी लगती थीं मानो विभोर हो गयी हों। ठाकुर ने एक रामप्रसादी गीत गाया। गाने के साथ-साथ ऐसा भाव झलकता था मानो वे जगन्माता काली को प्रत्यक्ष देख रहे हैं और आनन्द से बेसुध हो गये हैं। बाद में ठाकुर बैठ गये। जब तक वे खड़े थे तब तक जगन्माता

काली का भाव विद्यमान था पर उसके बाद वे श्रीकृष्ण के भाव में आविष्ट हो गये थे।"

इसके अनन्तर सन् १८८३ के नवम्बर मास में एक दिन हरिप्रसन्न अपने सहपाठी शरत (जो कालान्तर में स्वामी सारदानन्द के नाम से विख्यात हुए) और वरदा सुन्दर पाल के साथ श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन करने दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण देव को प्रणाम करने पर उन्हें मालूम हुआ कि वे कलकत्ता जा रहे हैं। उनसे अनुमति प्राप्त कर वे भी उनके साथ कलकत्ता चले आये और मणि मल्लिक के घर पर उन्होंने युगावतार की अपूर्व लीला का दर्शन किया। उस दिन हरिप्रसन्न को घर लौटने में देरी हो गयी। उनकी माता उनके लिए चिन्तित थीं। जब हरिप्रसन्न ने उन्हें बताया कि वे परमहंस देव का दर्शन करने गये थे तो माता ने भर्त्सना के स्वर में कहा, "उस पागल ब्राह्मण के पास गये थे जिसने साढ़े तीन सौ छोकरों का दिमाग खराब कर दिया है!" अपनी माता की उक्ति की याद करते हुए हरिप्रसन्न बाद में कहा करते थे, "सचमुच में दिमाग खराब हो गया है। यह तो अभी तक गरम है!"

इसके बाद हरिप्रसन्न जब फिर से दक्षिणेश्वर पहुँचे तो युगावतार ने पूर्वोक्त रूप से उन्हें कुश्ती के लिए आमंत्रित किया था और इस बहाने हरिप्रसन्न की छिपी हुई आध्यात्मिकता को उन्मुक्त कर उन्हें दैवी आनन्द का आस्वादन करा दिया था। फिर तो हरिप्रसन्न बार-बार दक्षिणेश्वर

पहुँचने लगे और युगावतार श्रीरामकृष्ण के पुण्य साहचर्य में अपने जीवन को कृतार्थ करने लगे। श्रीरामकृष्ण देव भी हरिप्रसन्न को आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न करने का प्रयास कर रहे थे। एक बार जब हरिप्रसन्न बहुत दिनों तक दक्षिणेश्वर नहीं पहुँचे तब उन्होंने शरत से उन्हें बुलाने के लिए कहा। हरिप्रसन्न के आने पर वे बोले, "क्यों रे, कैसा है ? आजकल आना-जाना बिलकुल कम हो गया है। बुलवाने पर भी तू नहीं आता!" हरिप्रसन्न ने बताया कि इच्छा नहीं होने से वह नहीं आता। यह सुनकर उन्होंने पुनः पूछा, "क्यों ध्यान-वान तो करता है न ?" हरिप्रसन्न ने उत्तर दिया, "ध्यान करने का प्रयास तो करता हूँ पर ध्यान जम नहीं पाता।" तब श्रीरामकृष्ण उनके समीप आये और भावाविष्ट हो उन्होंने हरिप्रसन्न की जिह्वा में कुछ लिख दिया। फिर उन्होंने हरिप्रसन्न से पंचवटी में ध्यान करने के लिये कहा। ठाकुर के इस विलक्षण स्पर्श से हरिप्रसन्न विह्वल हो उठे। उनके पैर इतने अवश हो गये कि चलते ही नहीं बनता था। किसी प्रकार वे पंचवटी में पहुँचे और ध्यान में बैठते ही उनकी बाह्य संज्ञा विलीन हो गयी। वे बड़ी देर तक इसी महाभाव में डूबे रहे और जब उनकी चेतना लौटी तो उन्होंने देखा कि ठाकुर उनके समीप बैठे हैं और उनकी देह पर हाथ फिरा रहे हैं। फिर ठाकुर हरिप्रसन्न को अपने कमरे में ले गये और साधना के सम्बन्ध में अनेक उपदेश दिये। उन्हें स्त्रियों के प्रति विशेष

सावधानी बरतने का आदेश देते हुए ठाकुर ने कहा, "देख, तू जगन्माता का अनुचर है। उनके अनेक कार्य तुझे करने होंगे। किसी का ठुकराया हुआ फल माँ की पूजा के योग्य नहीं रहता। इसीलिये कहता हूँ कि स्त्रियों के प्रति बहुत सावधान रहना।" हरिप्रसन्न ने अपने गुरुदेव के इस आदेश को अक्षरशः अपने जीवन में उतारा था। वे श्रीरामकृष्ण देव के अहैतुक प्रेम को देखकर विस्मित हो उठे थे। उनके देवदुर्लभ स्नेह का स्मरण करते हुए उन्होंने कालान्तर में बताया था, "मैं उनके प्रेम का अनुभव कर आश्चर्यचकित सा रह गया था। मैं बार बार सोचता रहता था कि वे मुझसे कितना स्नेह करते हैं। उनके प्रेम का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उनके प्रेम की कोई तुलना नहीं है।"

गहनतर साधनाओं को सम्पन्न करने के उपरान्त श्रीरामकृष्ण देव यह जान गये थे कि वे राम और कृष्ण के समान ही अवतार हैं। यद्यपि उन्होंने इस तथ्य को सायास प्रचारित नहीं किया था तथापि भावावस्था में यह सत्य आप से आप उनकी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त हो जाया करता था। एक बार हरिप्रसन्न ने श्रीरामकृष्ण देव को यह कहते हुए सुना कि "जो राम था, जो कृष्ण था, वही इस शरीर में रामकृष्ण के रूप में विद्यमान है।" हरिप्रसन्न हठात् इस पर विश्वास नहीं कर सके। वे सोचने लगे, "भले ही ये कुछ भी कहते हैं पर ये हैं बड़े सरल।" किन्तु दूसरे दिन जब हरिप्रसन्न ने श्रीरामकृष्ण देव के मुख से राम-

लीला और श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम की गहन-गम्भीर व्याख्या सुनी तो उनका सारा संशय जाता रहा। उस दिन श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "जिसने वृन्दावन में रास-लीला की थी वही इस शरीर में विद्यमान है।" श्रीरामकृष्ण देव के मुख के भाव और वचनों का इतना दृढ़ प्रभाव हरिप्रसन्न पर पड़ा कि उनके मानसपटल पर सदा के लिए युगावतार की महिमा की अमिट छाप पड़ गयी।

एक बार हरिप्रसन्न ने ठाकुर से पूछा, "ईश्वर साकार हैं या निराकार?" ठाकुर ने कहा, "ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी हैं। यही नहीं, वे साकार और निराकार के परे भी हैं। तू जो कुछ देखता है वह सब ईश्वर है।" यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने हरिप्रसन्न को अनुभूत सत्य का उपदेश दिया था पर हरिप्रसन्न उनसे दार्शनिक और शास्त्रीय उत्तर की अपेक्षा रखते थे। उन्होंने कान्ट, हीगल तथा अन्य दार्शनिकों के ग्रन्थों का पारायण किया था। इनका उल्लेख करते हुए उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा, "महाशय, आप भला इस विषय में क्या जानें? क्या आपने इन किताबों को पढ़ा है?" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण देव कह उठे, "अरे, तू यह क्या कहता है? किताब-विताब सब फेंक दे। वह ज्ञान नहीं है——वह सब अविद्या है।" इस प्रकार ठाकुर ने एक ही वाक्य में हरि-प्रसन्न के मिथ्या ज्ञान-गर्व का निराकरण कर दिया।

हरिप्रसन्न ने श्रीरामकृष्ण देव के अन्तिम दर्शन तब

किये जब वे गले की व्याधि से ग्रस्त थे और काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे। इसके बाद वे बाँकीपुर चले आये। यहीं उन्हें युगावतार के लीलासंवरण का संवाद मिला। इसके एक दिन पूर्व उन्हें विलक्षण दर्शन हुआ था। उन्होंने देखा कि ठाकुर सशरीर उनके समक्ष उपस्थित हैं। उस समय उन्हें इस दर्शन का तात्पर्य समझ में नहीं आया पर दूसरे दिन समाचार मिलने पर वे सब कुछ समझ गये। इसी प्रकार का एक अन्य विलक्षण दर्शन युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि के पूर्व उन्हें हुआ था। उस समय वे इलाहाबाद में थे। एक दिन पूजाघर में ध्यान करते समय उन्होंने देखा कि स्वामी विवेकानन्द ठाकुर की गोद में बैठे हुए हैं। यह देखकर वे कह उठे, "यह और न जाने क्या होने वाला है?" यथासमय बेलुड़ मठ से उनके पास समाचार पहुँचा कि स्वामीजी महासमाधि में लीन हो गये हैं।

पूना से इंजीनियरिंग की उपाधि प्राप्त कर हरिप्रसन्न सन् १८९३ में गाजीपुर में डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर के रूप में नियुक्त हुए। यहाँ उन्होंने अनेक बार प्रसिद्ध सन्त पवहारी बाबा के दर्शन किये। फिर वे इटावा, बुलन्द-शहर, मेरठ तथा मध्यप्रदेश के अनेक नगरों में रहे तथा सभी स्थानों पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के शिष्यों का स्वागत किया। यद्यपि हरिप्रसन्न अपने गुरुभाइयों के समान संन्यासी-जीवन बिताना चाहते थे पर वे तत्काल ऐसा नहीं कर सके। इसका कारण यह था कि उन पर

अपने छोटे भाई की शिक्षा और अपनी माता के भरण-पोषण का दायित्व था। इसीलिए उन्हें नौकरी करनी पड़ी थी। कुछ समय के बाद उन्होंने अपने दायित्व पूर्ण कर लिये तथा माता के भरण-पोषण की व्यवस्था कर दी। इसी समय उन्हें ठाकुर के दो बार दर्शन हुए तथा उन्होंने देखा कि ठाकुर उन्हें संसार-त्याग करने के लिये कह रहे हैं। हरिप्रसन्न ने तत्काल नौकरी छोड़ दी और आलमबाजार मठ में जाकर सम्मिलित हो गये। कुछ समय बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और स्वामी विज्ञानानन्द के नाम से परिचित हुए।

सन् १८९६ में स्वामी विवेकानन्द अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में हिन्दू धर्म की पताका फहराते हुए भारत लौटे थे। इसके पूर्व ही स्वामी विज्ञानानन्द आलमबाजार मठ में आ गये थे। कुछ दिनों बाद जब मठ को बेलुड़ ग्राम में अपनी जमीन पर स्थानान्तरित किया गया तब वहाँ भवन-निर्माण का पूरा दायित्व स्वामी विज्ञानानन्द को सौंप दिया गया। उनकी देखरेख में निर्माण-कार्य प्रारम्भ हो गया और स्वामी विवेकानन्द भी उसमें गहरी रुचि लेने लगे। यद्यपि स्वामी विज्ञानानन्द स्वामी विवेकानन्दजी पर अटूट श्रद्धा-भक्ति करते थे पर उनकी गम्भीरता से भयभीत भी रहते थे। जब स्वामी विवेकानन्द अत्यधिक विचारशील दिखायी देते तब विज्ञान महाराज को उनके पास जाने का साहस नहीं होता था। ऐसे समय में यदि स्वामीजी उन्हें बुलाते भी, तो विज्ञान महाराज कहते,

"महाशय, अभी अनेक कार्यों में व्यस्त हूँ। बाद में आऊँगा।" बेलुड़ के नवनिर्मित भवन में विज्ञान महाराज का कमरा स्वामीजी के कमरे के पास ही था। विज्ञान महाराज अपने कमरे में आते-जाते बहुत धीरे-धीरे चलते ताकि स्वामीजी को चलने की आवाज सुनायी न पड़े। स्वामीजी की स्मृति उनके मन में इतनी गहरी हो गयी थी कि उनकी महासमाधि के बाद भी वे उनकी जीवन्त उपस्थिति का अनुभव किया करते थे। वे कहा करते, "स्वामीजी अभी भी अपने कमरे में विद्यमान हैं। मैं तो उनके कमरे के पास से जाते समय बहुत धीरे-धीरे चलता हूँ जिससे उन्हें कोई असुविधा न हो। मैं तो इस भय से उनके कमरे की ओर नहीं देखता कि कहीं वे मुझे देख न लें।" एक व्यक्ति ने विज्ञान महाराज से पूछा था, "क्या आप अभी भी स्वामीजी को देखते हैं ?" उत्तर में उन्होंने कहा था, "वे तो हैं ही, फिर भला मैं उन्हें देखूँगा क्यों नहीं ?"

कह चुके हैं कि विज्ञान महाराज की स्वामीजी पर गहरी आस्था थी और उन्हें स्वामीजी के सम्बन्ध में अनेक दिव्य दर्शन भी हुए थे। एक बार रात्रि में उठने पर उन्होंने देखा कि स्वामीजी का कक्ष प्रकाशित है। उन्होंने सोचा कि सम्भवतः स्वामीजी अध्ययन कर रहे होंगे। उत्सुकता-वश उन्होंने दरवाजे की दरार से झाँककर अन्दर देखा। वह एक अभूतपूर्व दृश्य था। देखा कि स्वामीजी ध्यानमग्न हैं तथा उनकी चिन्मयी देह से प्रकाश का आस्फालन हो रहा है और उस आलोक से सारा कमरा उद्भासित हो

उठा है। एक अन्य अवसर पर भी उन्हें एक विलक्षण अनुभूति हुई थी। उस दिन दोपहर में वे निर्माण-कार्य की देखरेख कर रहे थे। धूप में उनका सारा बदन झुलस रहा था और कण्ठ सूख गया था। स्वामी विवेकानन्द बरामदे में खड़े होकर यह सब देख रहे थे। उन्होंने उसी समय शरबत का गिलास पीकर खाली किया था। उन्होंने सेवक से वह गिलास विज्ञान महाराज को दे आने के लिये कहा। विज्ञान महाराज को ज्ञान हुआ कि स्वामीजी ने शरबत का रीता गिलास उनके पास भेजा है तो उन्हें दुःख हुआ। गिलास में दो-चार बूँदें ही बाकी थीं। उन्हीं बूँदों को प्रसादस्वरूप विज्ञान महाराज ने ग्रहण किया। उन बूँदों के मुख में पहुँचते ही उन्हें अद्भुत अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि उनकी सारी थकान जाती रही है, देह शीतल हो गयी है और उनका कण्ठ स्निग्ध हो गया है। स्वामीजी की कृपा का अनुभव कर वे गद्गद् हो उठे।

बेलुड़ मठ के निर्माण-कार्य की समाप्ति के बाद विज्ञान महाराज स्वामी विवेकानन्द के आदेश से प्रयाग चले आये। यहाँ उन्होंने दस वर्ष साधना और तपस्या में व्यतीत किये। स्वामी विज्ञानानन्द को उपदेश देना अच्छा नहीं लगता था। यदि कोई भक्त अत्यधिक आग्रह करता तो वे कहते, "बचपन में प्रवेशिका में जो कुछ पढ़ा है उसे ही जीवन में साधने का प्रयास करो——अर्थात् 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरे के धन को उससे पूछे बिना ग्रहण करना चोरी है'——ये दो बातें ही अगर सध जायँ तो अन्य बातें सहज हो जायेंगी।"

स्वामी विज्ञानानन्द के प्रयास से प्रयाग में सन् १९१० में स्थायी भवन खरीदा गया और सेवाश्रम की प्रतिष्ठा की गयी। इससे पहले वे किराये के मकान में रहा करते थे। वे एकान्तप्रेमी और अध्ययनशील साधक थे। वे प्रायः बाहर नहीं निकला करते थे। पर बाद में आरोग्य के लिये वे भ्रमण करने लगे थे। एक बार आरोग्यलाभ के लिए काशीवास करते समय वे घूमते-घूमते सारनाथ पहुँच गये। वहाँ वे संग्रहालय देखने पहुँचे। संग्रहालय में एक प्राचीर पर तथागत बुद्ध के जन्म से लेकर महा-परिनिर्वाण तक की घटनाएँ अंकित थीं। इसे देखते-देखते उन्हें एक अलौकिक दर्शन हुआ। उन्होंने देखा कि समूचा ब्रह्माण्ड अन्तर्हित हो गया है और वे स्वयं एक ज्योति-बिन्दु के रूप में निराकार ज्योति-समुद्र के दर्शन कर रहे हैं। इतने में वह ज्योति-बिन्दु भी सागर में समा गया और उन्हें विशुद्ध ज्ञान, शान्ति और आनन्द की अनुभूति हुई। यह प्रगाढ़ अनुभूति तीन दिनों तक बनी रही। इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर उन्होंने निश्चय किया कि वे सारनाथ के बाद श्रीविश्वनाथ के दर्शन करेंगे। किन्तु जब वे सारनाथ से लौटने लगे तो सोचने लगे, "वहाँ जाकर क्या होगा ? विश्वनाथ तो एक पत्थर के टुकड़े के अलावा कुछ भी नहीं है।" यही सोचते-सोचते वे श्रीविश्वनाथ-मन्दिर में प्रविष्ट हुए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वहाँ विश्वनाथ-लिंग है ही नहीं। वहाँ जीव और जगत् का भी अस्तित्व नहीं है, वहाँ तो केवल एक

निराकार सत्य की सत्ता ही विद्यमान है ।

एक बार और उन्हें काशी में श्रीविश्वनाथ के दर्शन हुए थे । उन दिनों काशी में सेवाश्रम का निर्माण-कार्य चल रहा था । स्वामी विज्ञानानन्द एक दिन उसकी देख-रेख करने प्रयाग से काशी पहुँचे । स्टेशन से उन्होंने इक्का तय किया । किन्तु एक मोड़ में इक्का उलट गया और उनका एक पैर चक्के में फँस गया । इसके साथ ही इक्के में रखी एक भारी सन्दूक भी उन पर गिर पड़ी । उन्हें बहुत चोट लग गयी । किसी प्रकार वे सेवाश्रम पहुँचे । चोट के कारण उन्हें रात को ज्वर हो आया और वे बिछौने में छटपटाते हुए कहने लगे, "हा विश्वनाथ ! ठाकुर के कार्य के लिये, निःस्वार्थ कार्य के लिये तुम्हारे राज्य में आया था, तो मेरा यह हाल हो गया । देखो, काम का कितना नुकसान हो रहा है ।" बड़ी देर के बाद उन्हें नींद आ पायी । अर्ध रात्रि को स्वप्न में उन्होंने देखा कि जटाजूट-मण्डित शिव मन्द-मन्द हँसते हुए उनकी ओर बढ़ रहे हैं । उन्हें प्रतीत हुआ कि भगवान् विश्वनाथ उन्हें ले जाने आ रहे हैं । इसलिये वे बोले, "शिव ठाकुर, क्या आप मुझे ले जाने के लिये आये हैं ? पर मैं अभी नहीं जाऊँगा । ठाकुर का कार्य अभी बाकी है । पहले उसे पूरा करना होगा ।" पर शिव उनके समीप आये और उन्हें प्रगाढ़ आलिंगन में आवेष्टित कर लिया । शिवजी के स्वर्गिक स्पर्श से उनकी सारी पीड़ा जाती रही । उन्होंने शिवजी से कहा, "बाद में आइयेगा । अभी तो ठाकुर का काम

करना है।" दूसरे दिन जगने पर उन्होंने देखा कि ज्वर उतर गया है और पैर में दर्द बिलकुल नहीं है– सब मिट गया है।

स्वामी विज्ञानानन्द प्रायः प्रयाग में रहते थे तथा विशेष कार्यवश ही बेलुड़ या अन्यत्र जाते थे। उनका अधिकांश जीवन प्रयाग में ही ध्यान, तपस्या और अध्ययन में व्यतीत हुआ। यहीं उन्होंने वराहमिहिर के 'बृहज्जातक' तथा 'सूर्य-सिद्धान्त' का बँगला में अनुवाद किया तथा 'देवी भागवत' का अंग्रेजी में। उन्होंने बँगला में अभियांत्रिकी और जलप्रदाय पर ग्रन्थ-रचना भी की थी। अन्तिम काल में वे रामायण के अंग्रेजी अनुवाद में संलग्न थे पर वह पूरा नहीं हो पाया।

स्वामी विवेकानन्द बेलुड़ मठ में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के मन्दिर का निर्माण करना चाहते थे। सन् १८९१ में जब स्वामी विवेकानन्द के साथ विज्ञान महाराज उत्तर-पश्चिम भारत की यात्रा कर रहे थे तब उन्होंने मंदिरों की स्थापत्य-कला का सूक्ष्म अध्ययन किया था और श्रीरामकृष्ण-मन्दिर की रूपरेखा तैयार कर ली थी। बाद में बेलुड़ में स्वामी विवेकानन्द ने विज्ञान महाराज को बता दिया था कि मन्दिर कहाँ बनेगा और उसका नक्शा कैसा होगा। उन्होंने अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा था, "यह देह तो उतने दिन नहीं टिक सकेगी, किन्तु तब मैं ऊपर से देखता रहूँगा।" सन् १९२९ में स्वामी शिवानन्दजी ने मन्दिर की भित्ति-प्रतिष्ठा की

थी। किन्तु इसका स्थान कुछ बदल गया था इसलिये सन् १९३४ की जन्माष्टमी को इसकी पुनः भित्ति-प्रतिष्ठा की गयी। मन्दिर का गर्भगृह १४ जनवरी सन् १९३८ को पूर्ण हुआ और उसी दिन भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की प्रतिमा की स्थापना की गयी। स्वामी विज्ञानानन्दजी प्रतिष्ठा-महोत्सव के बाद अपने कक्ष में लौटे। वहाँ उन्होंने बताया, "मैंने स्वामीजी से कहा, 'आपने कहा था कि आप ऊपर से देखेंगे, आज देखिये कि आपके द्वारा प्रतिष्ठित ठाकुर नये मन्दिर में विराजमान हैं।' तब मैंने स्पष्ट देखा कि स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द), राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द), शरत महाराज (स्वामी सारदानन्द), हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द), गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) आदि सभी आये हैं।" कुछ क्षणों के उपरान्त वे फिर बोले, "अब मेरा काम समाप्त हो गया। स्वामीजी ने मुझे जिस काम का भार सौंपा था वह आज सिर पर से उतर गया।"

स्वामी विज्ञानानन्द सन् १९३४ में रामकृष्ण मिशन के वाइस प्रेसिडेंट और सन् १९३७ में प्रेसिडेंट चुने गये थे। सन् १९३८ में बेलुड़-मन्दिर के प्रतिष्ठा-महोत्सव के बाद वे प्रयाग लौटे और कुछ महीने की अस्वस्थता के उपरान्त २५ अप्रैल, सन् १९३८ को महासमाधि में लीन हो गये। स्वामी विज्ञानानन्दजी का जीवन आडम्बरहीन और सरल था तथा उनकी बातें हास्य-समन्वित और

चित्ताकर्षक हुआ करती थीं। वे बात ही बात में गूढ़ तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट कर लेते थे। एक बार उन्होंने अपने एक शिष्य से पूछा, "तुमने भूत देखा है ?" शिष्य के नहीं कहने पर उन्होंने बताया, "तुम्हारा शरीर ही पंचभूत है। पर कोई भय की बात नहीं है। अगर तुम राम का नाम लोगे तो भूत भाग जायेगा। जहाँ राम-नाम होता है वहाँ भूत नहीं ठहर सकता।"

स्वामी विज्ञानानन्दजी व्यवहार आदि से अत्यन्त सामान्य प्रतीत होते थे पर ध्यान से देखने पर उनकी गम्भीरता, उदारता और प्रेममय स्वरूप सहज ही में प्रकट हो जाता था। उनकी वेशभूषा विचित्र थी। उनका कुरता विशाल था और उनकी टोपी कान को भी ढाके रखती थी। अगर रास्ते में कोई उन्हें कौतूहल से देखता तो वे कहते, "क्या देखता हाय ? हाम बान्दर हाँय, राम जी का बान्दर !" भारतीय स्वाधीनता के आन्दोलन में वे बड़ी रुचि रखते थे तथा वे इसे श्रेयस्कर कार्य समझते थे। उनका कहना था, "जहाँ सत्कार्य के लिये इतने लोग इकट्ठे होते हैं वहाँ निश्चित रूप से ईश्वर की पूजा होती है। संघबद्ध होकर कार्य करना भी ईश्वर की पूजा है। वहाँ देश के मंगल का चिन्तन तो होता है। एकता में ही भगवान् की शक्ति का विकास होता है। ऐसा लगता है कि अब हमारा देश जाग रहा है।"

●

# पुण्य-स्मृति

## नित्यरंजन चट्टोपाध्याय

उस दिन साँझ के समय हम नाती-नातिनों का दल अपनी अस्सी साल से भी बूढ़ी नानी को घेरकर बैठ गया और उनसे श्रीमाँ सारदा के पास अपनी दीक्षा लेने की कहानी बताने की जिद करने लगा। सम्भवतः बीते हुए पावन दिनों का स्मरण कर, नानी का मुख आनन्द से उज्ज्वल हो उठा। तनिक मृदु-स्निग्ध हास्य के साथ, स्नेह-भरे कण्ठ से नानी ने कहना शुरू किया—

वह आज से लगभग साठ साल पहले की बात होगी। तब तो मेरी उम्र बाईस साल की थी। उस छोटी उम्र में मेरी शादी हो गयी थी—मुड़ागाछा गाँव में, जो नदिया जिला में नाकाशीपाड़ा थाने में पड़त है। ससुराल के लोग रुपये-पैसे वाले जमींदार थे। मान-सम्मान, रुपये-पैसे, नाम-यश किसी चीज की कमी न थी। तुम्हारे नाना बडे सरल और सत्यवादी थे। पृथ्वी में किसी के प्रति न तो उनका इतनासा गुस्सा था, न उनमें अभिमान था। वे सरल देवता अब न रहे...। इतना कहकर नानी ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा और पुनः कहना शुरू किया—एक दिन बातों-बातों में उन्होंने अपने मन की इच्छा प्रकट की। वे रामकृष्ण मिशन के किसी संन्यासी से दीक्षा लेना चाहते थे। तब के दिन निराले थे। तब आजकल

के समान व्यक्तिगत मतामत प्रकट करके विवाद और झगड़े नहीं हुआ करते थे। मैंने खुशी-खुशी उनकी बात मान ली। एक दिन सुयोग भी उपस्थित हो गया। मैं उत्तरपाड़ा गयी हुई थी। वापसी में बेलुड़ आयी। तब मठ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी, स्वामी सारदानन्दजी और शत्रुघ्न महाराज थे। उनके पास मैं ज्योंही दीक्षा की प्रार्थना लेकर गयी कि वे सबके सब एक स्वर से बोल उठे, "श्रीमाँ अब भी हैं, उन्हीं के पास दीक्षा लेना अच्छा होगा।" उस दिन श्रीमाँ के दर्शन न कर पायी, क्योंकि तब वे जयरामवाटी में थीं। स्वामी सारदानन्दजी ने हँसकर कहा, "चिट्ठी लिखो। माँ के लौटने पर हम उन्हें बतला देंगे।" दुःखी होकर मैं घर लौट आयी।

दो महीने बीत गये। इस बीच बेलुड़ में दो-एक बार पत्र भी लिखा। परन्तु श्रीमाँ लौटकर नहीं आयी थीं। एक दिन अचानक स्वामी सारदानन्दजी की चिट्ठी मिली कि माँ उद्बोधन में आ गयी हैं। दूसरे दिन हम दोनों श्री माँ के चरणों के दर्शन करने उद्बोधन में आ उपस्थित हुए। श्रीमाँ दुमँजले में थीं। माँ के चरणों में मस्तक रखने की बहुत दिनों की साध पूरी हुई। प्रणाम करके दीक्षा की बात कहते ही माँ बोलीं, "राधू बड़ी बीमार है। अभी व्यस्त हूँ। तुम लोग और किसी दिन आना, बेटी।" फिर माँ ने स्नेहपूर्वक हमें जलपान कराया और विदा दी। उस दिन माँ में मैंने सहज, सरल मातृभाव की प्रतिमूर्ति देखी। देखा कि वे माँ ही हैं, संसार की माँ,

सभी की माँ ।

इसके बाद कई दिन बीत गये । मैं अपने मायके चक्र-धरपुर गयी हुई थी । दिन गिनते हुए सुअवसर की प्रतीक्षा कर रही थी । तभी खबर मिली कि तुम्हारे नाना टायफाइड से बीमार हैं। उन दिनों टायफाइड का आना मानो यमदूत का आना था । मैं ठाकुर का स्मरण कर तुरन्त ससुराल लौट आयी। उनकी बीमारी धीरे धीरे सख्त होती गयी। यम और मनुष्य में मानो रस्साखींच चली हो। तुम्हारे नाना बुखार के कारण बीच बीच में प्रलाप कर उठते थे—— "श्रीमाँ का आशीर्वाद ले आओ, नहीं तो न बच पाऊँगा ।" मैंने भी देर न कर, माँ के आशीर्वाद की याचना करते हुए, उद्बोधन में पत्र लिखा । उत्तर मिला—— "ठाकुर की कृपा से लड़का ठीक हो जायगा, चिन्ता न करना ।" फिर क्या था, बीमारी का क्रम उल्टा पड़ गया और तुम्हारे नाना धीरे धीरे चंगे हो उठे ।

चिकित्सक की सलाह पर हम लोग जलवायु-परिवर्तन के लिए गयाजी गये। महीने भर में वे पूरी तरह स्वस्थ हो उठे । पुनः घर लौट आये । कुछ दिन बीते । एक दिन अवसर देखकर हम लोग फिर से उद्बोधन में आ उपस्थित हुए। तुम्हारे नाना को तब तक श्रीमाँ के चरण-स्पर्श करने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था, क्योंकि दीक्षा से पहले माँ पर-पुरुष से बातचीत नहीं करती थीं । ज्योंही मैंने माँ के चरणों पर सिर रखा कि वे हँसकर बोल उठीं, "अभी तो, बेटी, दीक्षा नहीं हो पायेगी; बाद में

आना।" थोड़ी देर चुप रहकर वे फिर बोलीं, "ठाकुर के जन्मोत्सव के समय बेलुड़ आना। देखें, ठाकुर की क्या इच्छा है। खाली मुँह वापस न जाना, कुछ खाकर जाओ।" उस दिन भी विषादयुक्त हो हम लोग घर लौटे।

ठाकुर का जन्मोत्सव समीप आ रहा था। फागुन का महीना। वासन्ती हवा बहने लगी थी। सूखे वृक्षों की शाखाओं पर रंग की बहार आयी हुई थी। डगालियों पर मंजरी की शोभा छायी हुई थी। आकाश और धरती अबीर के रंग से सने थे। ऐसे समय आशा और निराशा के झूले में झूलते हुए हम लोग बेलुड़ आये। स्वामीजी के कुटीर में श्रीमाँ बैठी हुई थीं। देश-देशान्तर की भक्त महिलाएँ माँ को घेरकर बैठी थीं। भक्तों के साथ माँ दुमँजले पर आयीं, मैं भी साथ साथ चली गयी।

स्वामी विवेकानन्द का कमरा खोलकर उन्होंने भक्तों को दिखाया। कमरे के भीतर स्वामीजी की स्मृतियाँ बिखरी हुई पड़ी हैं। माँ के नेत्र गीले हो आये। स्वामीजी के प्रति माँ का कितना स्नेह था! दुलारे बेटे की याद ने शायद माँ के हृदय को झकझोर दिया था। जब हम लोग नीचे के कमरे में लौटकर आयीं तब तक बड़ी बेर हो चुकी थी। माँ को प्रणाम कर जैसे ही मैं उठी, वे हँसकर बोलीं, "आज भी, बेटी, नहीं हो पाया। तुम और कोई अच्छा दिन देखकर आना। ठीक है न? अच्छा, जमे तो आनेवाली अक्षयतृतीया के दिन ही उद्बोधन चली आना। तुम्हारे पति राजी हैं तो?" मैंने सिर

हिलाकर सम्मति दी और पूछ बैठी, "दीक्षा लेने में कितना खर्च पड़ेगा, माँ ?" हँसकर माँ बोलीं, "खर्च ! शुद्ध होकर, गंगास्नान करके आना। और दक्षिणा ? एक हर्रे का फल ले आना, बेटी; और कुछ न लगेगा।" मैंने माँ के चरणों में प्रणाम किया और उस दिन भी हम लोग लौट आये।

काम-काज में उत्साह न रहा। हृदय के भीतर एक अज्ञात पीड़ा कसकती रहती। क्या अपराध किया है कि बार बार असफल होकर, ग्लानि लेकर लौट आना पड़ा है ? दिन बीत चले। क्या इस बार भी अपूर्ण साध लेकर लौट आना पड़ेगा ? शायद मन की कालिमा इसी तरह धुलती है—दुःख की कसौटी पर घिसकर मन शायद खरा सोना बनता है।

नया साल आया। अक्षय-तृतीया का दिन भी समीप आता चला। माँ के निर्देशानुसार शुद्ध आचारवान् होकर, हम लोग गंगास्नान करके उनके पास उपस्थित हुए। माथा टेकते ही माँ हँसकर बोलीं, "आ गयीं ! आज ही तुम लोगों की दीक्षा होगी। जरा बैठो।" महिलाओं के बैठने की व्यवस्था दुमँजले पर थी और पुरुषों की, नीचे। पूजा-घर में एक के बाद एक पुकार होने लगी। जब मेरी पारी आयी तो सारी देह में एक अज्ञात सिहरन दौड़ गयी। पूजा-घर में आकर मैंने आसन ग्रहण किया। दीक्षा हो गयी। कान में इष्टमंत्र का उच्चारण कर, जप की पद्धति बतलाकर माँ बोलीं, "ज्यादा कुछ करना न होगा, बेटी। मेरे पास दीक्षा ली है, ठाकुर की कृपा से तुम्हारा

अब और जन्म न होगा।" थोड़ा चुप रहकर फिर बोलीं, "कभी भी दूसरों के दोष न देखना, दोष पहले अपने देखना। मनुष्य का उसका अपना मन पहले दोष करता है, तब वह दूसरों के दोष देखता है। पर-दोष देखने से खुद की ही हानि होती है, दूसरों का कुछ बिगड़ता नहीं।" फिर मेरी ठोड़ी को छूकर, दुलार करके कहा, "खाली-मुँह मत जाना, ठाकुर का प्रसाद लेकर जाना।" बरामदे में लौटकर मैंने सुना कि तुम्हारे नाना की दीक्षा तो पूर्वाह्न में ही हो गयी है। तुम्हारे नाना साथ में एक गरद की (रेशमी) साड़ी और कुछ मिठाई ले गये थे। माँ के हाथ में साड़ी और मिठाई देते हुए मैंने कहा, "माँ! आपके लिए यह थोड़ी सी मिठाई लायी हूँ, और यह कपड़ा आपके चरण पोंछने के लिए।" मिठाई का बर्तन पूजा-घर में रखकर माँ बोलीं, "तुम्हारी इच्छा है कि यह साड़ी मैं पहनूं— ठीक है, इसे पहनकर मैं पूजा करूँगी।"

ऊपर के दालान में दो पंक्तियों में महिलाएँ बैठीं। नीचे पुरुषों की व्यवस्था थी। माँ भी हम लोगों के बीच आकर बैठ गयीं। एक महिला ने मेरी ओर इशारा कर श्रीमाँ से पूछा, "यह कौन है, माँ ?" श्रीमाँ हँसकर बोलीं, "मेरी और एक बेटी!" क्षणभर में मैं भी उन्हीं में से एक हो गयी। उस दिन माँ का प्रसाद पाकर हम लोग धन्य हुए थे। मैंने जो मिठाई दी थी, उसे माँ ने अपने हाथ से सब भक्तों को बाँटा। धीरे धीरे शाम हो चली। आकाश में कहीं मेघ दिखने लगे, मानो आँधी की पूर्व सूचना दे

रहे हों। मैं और तुम्हारे नाना विदा लेने के लिए माँ के पास आये। मैंने कहा, "मां, आपने तो इतनी सी भी मिठाई नहीं खायी ?" "यह क्या कहती हो, बेटी; मैंने इतनी मिठाई खायी तब भी कहती हो कि नहीं खायी !"–– माँ ने हँसकर उत्तर दिया। हमने प्रणाम करके कहा, "तो माँ, आज विदा लेते हैं।" हम दोनों के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए माँ बोलीं, "आँधी-वर्षा हो सकती है, सावधानी से जाना। पहुँच की खबर देना। जितना सम्भव हो शुद्ध मन से उन्हें पुकारना, पूजा में बाहरी टीम-टाम की जरूरत नहीं। दूसरों के दोष कभी मत देखना, सुखी रहोगे।" विदा लेते समय न जाने क्यों दोनों नेत्र अश्रुपूरित हो गये। हम लोग रवाना हुए। उत्तरपाड़ा स्टेशन पर पहुँचते ही प्रबल वेग से आँधी बहने लगी और मूसलाधार वर्षा होने लगी। पर श्रीमाँ के आशीर्वाद से हम लोग निर्विघ्न घर पहुँच गये। दूसरे दिन माँ के निर्देशानुसार उन्हें पहुँच की खबर देते हुए चिट्ठी लिखी। उत्तर मिला–– "तुम लोग सकुशल पहुँच गये, यह ठाकुर की कृपा है। पूजा-विधि के बारे में जैसा कहा है उससे अधिक कुछ करने की आवश्यकता नहीं।"

बीते दिनों के पावन क्षणों का वर्णन करते करते नानी का गला भर आया। आँखों के कोनों में अश्रुकण छलक उठे। कहने लगीं, "पाँच-छः साल पहले बेलुड़ और उद्-बोधन गयी थी। बेलुड़ मन्दिर में थोड़ी देर बैठने का सोचा था, पर वहाँ दोपहर के बाद रहने की अनुमति नहीं

है। अतः हृदय की वेदना को दबाकर, एक सामान्य दर्शक की भूमिका निभाकर वापस लौट आयी थी। उद्‌बोधन गयी तो यह कामना लेकर कि श्रीमाँ के कमरे में जाकर प्रणाम कर आऊँगी। पर वहाँ भी दरवाजा बन्द था। भीतर जाने की अनुमति नहीं मिली। लौटने लगी। आँखों से आँसुओं की धार बह चली। मन ही मन माँ का स्मरण करके उनसे कह उठी, "माँ! तुम तो कोई भी साध अपूर्ण नहीं रखती हो; क्या मैं फिर से आ पाऊँगी?" सदर दरवाजे के पास आकर खड़ी हूँ कि अब लौट जाऊँगी; इतने में एक ब्रह्मचारी तेजी से आकर बोले, "ठाकुरघर में कौन जाना चाहता था?–– आइये।"

मैं चमक उठी। यह क्या! तब तो माँ ने अब भी नहीं भुलाया है। माँ की करुणा का स्मरण करके मेरे दोनों नेत्र अश्रुजल से भर गये। ठाकुरघर में जाकर प्रणाम करते ही दोनों आँखें फिर से अस्पष्ट हो गयीं। माँ का वही कण्ठ-स्वर मानो फिर से स्पष्ट सुनायी पड़ा–– "कभी भी दूसरों के दोष न देखना, दोष पहले अपने देखना। मनुष्य का उसका अपना मन पहले दोष करता है, तब वह दूसरों के दोष देखता है। पर-दोष देखने से खुद की ही हानि होती है, दूसरों का कुछ बिगड़ता नहीं।"

श्रीमाँ के हस्ताक्षर से युक्त पोस्टकार्डों को मैंने आज भी यत्नपूर्वक सुरक्षित रखा है। बीच बीच में जब उन्हें देखती हूँ तो बीते पावन दिनों की याद मन में ताजा हो जाती है।

रात के ११ बजने को आये। नानी के पैरों पर माथा टेककर मैंने कहा, "तो नानी, अब चलूँ।"

नानी के मुख पर स्वर्णिम हास्य की छटा थी। मेरे चेहरे पर अपनी प्रशान्त दृष्टि फेंककर उन्होंने कहा, "जाओ बेटा, बीच बीच में खबर पूछ जाना।" हाथ उठाकर उन्होंने मेरे सिर का स्पर्श किया। जो हाथ अर्धशताब्दी पूर्व परमाराध्या श्रीमाँ के चरणकमलों का स्पर्श कर धन्य हुआ था, उस हाथ के स्पर्श से मेरा मन आनन्द से भर उठा। एक अपार्थिव आनन्द से मेरा शरीर-मन सब कुछ आच्छन्न हो गया और मैं नानी से विदा लेकर रास्ते पर निकल पड़ा।

●


# एजेन्ट चाहिये !

'विवेक-ज्योति' के स्वस्थ एवं शक्तिप्रद विचारों के प्रचार एवं प्रसार हेतु स्थान स्थान पर एजेन्सी देने का निश्चय किया गया है।

जो व्यक्ति इस कार्य में सहयोग देने के इच्छुक हैं, वे एजेन्सी की शर्तों और नियमों की जानकारी हेतु लिखें--

—व्यवस्थापक

**'विवेक-ज्योति'**

# ईसाई धर्म में संकटकाल

## फादर राबर्ट कैम्पबेल

(लेखक शिकागो की डि-पॉल यूनिवर्सिटी में थियोलॉजी के प्रोफेसर हैं। उन्होंने प्रस्तुत व्याख्यान शिकागो-स्थित 'विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी' के तत्त्वावधान में आयोजित सर्वधर्मसम्मेलन में, ईसाई धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए, दिया था। यह सम्मेलन शिकागो में १८९३ ई. में भरी विश्वविख्यात सर्वधर्मपरिषद् की ७५ वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में आयोजित हुआ था। प्रस्तुत लेख 'प्रबुद्ध भारत' के मार्च १९६९ अंक से साभार गृहीत और अनूदित है।--सं.)

यदि आज से दस वर्ष पूर्व मैंने यह भाषण दिया होता तो ईसाई धर्म का एक बड़ा सुनहला चित्र आपके समक्ष खींचा होता-- ऐसे वर्धमान ईसाई धर्म का जिसके कि विश्व की जनसंख्या के लगभग एक-तिहाई लोग सदस्य हैं। परन्तु इन पिछले दस वर्षों में मुझे लगता है कि ईसाई धर्म में एक संकटकाल आ उपस्थित हुआ है। (जो विभिन्न लेख मैं पढ़ा करता हूँ वे भी मेरी धारणा की पुष्टि करते हैं।) आज ईसाई धर्म विषम संकट की घड़ियों में से गुजर रहा है। ईसाई धर्म के इतिहास में ऐसी भयावह घड़ी इसके पहले सम्भवतः कभी नहीं आयी थी। मैं रोमन कैथोलिक चर्च का अनुगामी हूँ। उदाहरण के लिए इसी सम्प्रदाय को ले लूँ। कुछ समय पूर्व पोप पॉल ने सन्तति-नियमन पर जो आदेश प्रसारित किया उसकी

कैसी प्रतिक्रिया समाज में हुई इससे आप सभी भलीभाँति परिचित हैं। इसके पूर्व पोप के द्वारा जो भी आदेश प्रसारित होते थे, कैथोलिक समाज सिर नवाकर उन्हें शिरोधार्य करता था। पर उपर्युक्त आदेश का कैथोलिक मतावलम्बियों ने प्रबल विरोध किया। मैं ऐसा नहीं कहूँगा कि अधिकांश कैथोलिक समाज इस आदेश का विरोधी था, तथापि हमने देखा कि कैथोलिक पादरीगण पोप के उक्त आदेश का विरोध करते हुए, लोगों को सम्बोधित करके कह रहे हैं, "पोप की बात हमारे अनुकूल नहीं है। वे आधुनिक कैथोलिक विचारधारा के संस्पर्श में नहीं हैं। वे कैथोलिक समाज के सम्पर्क में नहीं हैं।" आज हम पादरियों और पुरोहितों को इस प्रकार की बातें करते हुए सुन रहे हैं। वाशिंगटन डी. सी. में कुछ पादरियों ने पोप के उक्त आदेश के विरोध में एक याचिका भी दायर की है जिसमें छः सौ से भी अधिक ऐसे पादरियों के हस्ताक्षर हैं जो देश भर में सर्वत्र थियोलॉजी और फिलॉसफी के शिक्षक हैं।

तो, यह मात्र एक उदाहरण है जो प्रदर्शित करता है कि प्रभुता का खण्डन किस प्रकार हो रहा है। ईसाई धर्म में पोप की यह प्रभुता उसकी एक विशेषता है। सम्भवतः इससे भी ज्वलन्त उदाहरण तो लोगों की वह प्रतिक्रिया है जो दो या तीन महीने पूर्व पोप के धर्मविश्वास के विरुद्ध उत्पन्न हुई थी। पोप ने अपने धर्मविश्वास सम्बन्धी एक वक्तव्य प्रसारित किया था और वह ठेठ परम्परागत था। प्रत्येक कैथोलिक अपने बचपन से प्रश्नो-

त्तरी के माध्यम से इसी धर्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करता है। आशा तो यह थी कि पोप के उक्त वक्तव्य के सन्दर्भ में कैथोलिक मतावलम्बी जन कहते, "हाँ, यही हमारा धर्म है, यही हमारी आस्था है", परन्तु कई दिशाओं से उस वक्तव्य का भी सक्रोध विरोध किया गया।

अतएव आज हम ईसाई धर्म में दो विपरीत विचार-धाराएँ पाते हैं। मैं इन दोनों ही पक्षों का उल्लेख आपके समक्ष करूँगा, क्योंकि यदि ईसाई धर्म का प्रवक्ता होने के नाते मैं केवल एक पक्ष आपके सामने रखूँ तो आपमें से कई लोग कह सकते हैं, "यह तो मेरी जानकारी का, मेरी मान्यता का ईसाई धर्म नहीं है।" इसलिए आज मैं ईसाई धर्म की दोनों प्रमुख विचारधाराओं को आपके सामने रखूँगा और आपमें से जो ईसाई हैं वे अपने को सम्भवत: एक या दूसरी विचारधारा के अन्तर्गत पायेंगे। ये दो प्रमुख विचारधाराएँ ईसाई धर्म के सभी सम्प्रदायों में विद्यमान हैं। कैथोलिक दो भागों में विभाजित हैं; कुछ तो परम्परावादी दल के अन्तर्गत हैं और कुछ उस दल में हैं जिसे आधुनिकतावादी कह सकते हैं। मैंने कहा कि प्रत्येक चर्च, प्रत्येक सम्प्रदाय विभाजित है। एक नयी घटना घट रही है। अब झगड़ा कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट का नहीं है, बल्कि प्रगतिवादी और संरक्षणवादी का है। अत: मैं इन दोनों प्रमुख विचारधाराओं पर चर्चा करूँगा जो आज ईसाई धर्म में हमें दिखायी देती हैं। और, मेरी समझ में, ईसाई धर्म पर बोलते समय इन दोनों पक्षों की

विवेचना उचित ही होगी ।

एक पक्ष को मैं कहूँगा परम्परावादी या संरक्षणशील दल, जिसका दृष्टिकोण अलौकिकता सम्बद्ध है। सत्य के प्रति इसकी धारणा इस प्रकार की है-- ईश्वर ने सत्य को हमारे समक्ष प्रकट किया है। उसने अपने सम्बन्ध के सत्य को, मरणोपरान्त जीवन सम्बन्धी सत्य को तथा मनुष्य अपने जीवन में किस प्रकार वर्तन करे इस सम्बन्ध में अपनी इच्छा को उसने मानव के कल्याण के लिए प्रकट किया है। इस परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार ये सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनशील हैं तथा मनुष्य का कर्तव्य यह है कि वह इस सम्बन्ध में ईश्वर की इच्छा को पहचाने और तदनुसार कार्य करे ।

दूसरे पक्ष को मैं आधुनिकतावादी या प्रगतिशील दल कहूँगा। सम्भवतः आप इसे मानवतावादी या लौकिक दृष्टिकोण वाला दल कहना पसन्द करें। यह दल कहता है, "हम पूर्वोक्त दल के कथन से सहमत नहीं हैं। हमारी मान्यता है कि सत्य एक सापेक्ष चीज है, वह परिवर्तन-शील है। ये मत और सिद्धान्त कोई शाश्वत काल तक टिकनेवाले नहीं हैं, बल्कि उनका सतत विकास हो रहा है, उनमें परिवर्तन हो रहा है और हम ऐसे बिन्दु पर पहुँच रहे हैं जहाँ हम ऐसे कुछ तत्त्वों और सिद्धान्तों को अस्वीकृत कर रहे हैं जिनकी पहले हमने 'पवित्र सत्य' के रूप में गणना की थी ।"

इस प्रकार कैथोलिक मतावलम्बियों के इन दो दलों हम

के बीच पूरी तरह अलगाव पाते हैं। भले दोनों कैथोलिक हों, या ल्यूथेरन, या एपिस्कोपलियन, उनके पर दृष्टिकोण में सम्पूर्णतः पार्थक्य है। संरक्षणशील दल का ईश्वर-विषयक दृष्टिकोण यह है—"ईश्वर सर्वतंत्र-स्वतंत्र एकाधिकार-सम्पन्न व्यक्ति है। वही एक ईश्वर तीन रूप धारण करता है— पिता, पुत्र और पवित्रात्मा। तीनों समान हैं, तीनों शाश्वत हैं— शक्ति, प्रेम और ज्ञान में तीनों बराबर हैं।" प्रगतिशील दल कहता है, "यह ईश्वर की धारणा तो दकियानूसी और युग-बाह्य है।" ये लोग कहते हैं, "हमें ऐसे ईश्वर को पसन्द करना चाहिए जो अधिकांश में मनुष्य की तरह है; जिसके दोष हैं, जिसके अनुभव की शक्ति है, जो बदल सकता है, जो विकसित होता है।" उनका कहना है कि हम संसार में हर पदार्थ को विकसित होते देखते हैं और ईश्वर को इसका कोई अपवाद नहीं होना चाहिए। हम ऐसे वाक्यांश देखते हैं जैसे 'सत्ता का आधार'; पॉल टिल्लिश की ईश्वर-विषयक धारणा इस 'सत्ता का आधार' को ले लें, अथवा 'ईश्वर को मानव-चेतना की अभिव्यक्ति' मान लें, या 'ईश्वर की परम सत्य के रूप में' कल्पना करें; हर दशा में हम उस धारणा से दूर हैं जो ईश्वर को मनुष्य के अलावे अन्य किसी प्रकार का व्यक्तित्व प्रदान करती हो। अतएव एक बार फिर से ईश्वर की धारणा-विषयक सबसे बुनियादी विचार में भी हम ईसाई धर्म के उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोणों में पूर्णतः

भिन्नता पाते हैं ।

अब नैतिकता को लें । नैतिकता की, और विशेष कर लैंगिक नैतिकता की परम्परावादी धारणा यह है कि 'विवाह-सम्बन्ध से बाहर का यौन-सम्बन्ध गलत है और एकदम गलत है ।' जब मैं उपर्युक्त बात कहता हूँ तो संरक्षणशील या परम्परावादी ईसाई दल के पक्ष में—परम्परावादी कैथोलिकों के, परम्परावादी प्रोटेस्टैन्टों के और पूर्वीय संरक्षणशील लोगों के पक्ष में बात कहता हूँ । मेरी उपर्युक्त बात इन सब लोगों को समान रूप से मान्य है । इन सबकी लैंगिक नैतिकता की धारणा बड़ी कठोर रही है और अभी भी है । प्रगतिवादियों का कहना है, 'हमें अपने यौन-सम्बन्धी नियमों और नीतियों का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए, उन्हें आधुनिक मानव के लिए अधिक अनुकूल बनाना चाहिए । हो सकता है कि विवाह-सम्बन्ध से बाहर के यौन-सम्बन्ध हरदम गलत न हों । हमें इन यौन-नियमों पर फिर से विचार करना चाहिए और तलाक को स्वीकृत किया जाना चाहिए । सम्भवत: गर्भपात को भी कानून के द्वारा स्वीकार कर लिया जाना चाहिए ।' संरक्षणशील दल कहता है—'अपरिवर्तनशील नियमों से चिपके रहो'। आधुनिकतावादी दल का कथन है—'हमें अपनी नैतिकता को आधुनिक मानव के अनुकूल बनाना है'।

अब ईसा मसीह के प्रति दृष्टिकोण को लें । ईसा मसीह तो ईसाई धर्म के प्राणकेन्द्र ही हैं । प्रोटेस्टैंट, कैथो-

लिक और पूर्वीय संरक्षणशील लोगों का जो परम्परा-वादी समह है वह कहता है, 'यह हमारे विश्वास की धुरी है। ईसा मसीह ईश्वर हैं। वह अपूर्व हैं। उनके समान दूसरा और कोई नहीं है। एक ही साँस में ईसा मसीह के साथ अन्य किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिया जा सकता। एकमात्र वही ईश्वर हैं, पवित्र त्रिमूर्ति में वे दूसरी मूर्ति हैं, मानव-देहधारी भगवान् हैं।' दूसरी ओर आधुनिकतावादी दल है, जिसे आप भौतिकता-वादी या मानवतावादी भी कह सकते हैं। इस दल का कथन है, 'ठीक है, हम भी ईसा को दिव्य मानते हैं, परन्तु उतना ही दिव्य जितना कि हममें से कोई भी हो सकता है।' और यहाँ पर हम हिन्दू दृष्टिकोण के साथ एकदम समानता देखते हैं। हिन्दू भी कहते हैं कि वह दिव्यता हममें से प्रत्येक में है, हम सब अव्यक्त ब्रह्म हैं। इस दृष्टिकोण के प्रति प्रगतिवादी ईसाई दृष्टिकोण पर्याप्त मात्रा में सहानुभूति प्रकट करेगा। वास्तव में, मेरी समझ में तो कई मुद्दों में मानवतावादी ईसाई दृष्टि-कोण पूर्व के दर्शन की ओर झुकता चला जा रहा है-- यदि आप चाहें तो कह सकते हैं कि व्यक्तित्व-रहित (निराकार) ईश्वर की धारणा में तथा हम सबकी मौलिक दिव्यता की धारणा में भी।

तत्पश्चात् मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण को लें। आलो-चकों की दृष्टि में परम्परावादी ईसाई धर्म मनुष्य के प्रति एक निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह संरक्षण-

शील ईसाई धर्म कहता है कि ईश्वर ने मनुष्य को पूर्ण ही बनाया, पर मनुष्य पतित हो गया। उसने ईश्वर के साथ पाप किया, ईश्वर की अवहेलना की, इसलिए वह गिर गया। फलस्वरूप मनुष्य जन्म से ही मौलिक पाप के साथ पैदा होता है, उसमें पाप करने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है, वह ईश्वर की अपेक्षा अपने को अधिक प्यार करता है, सभी बातों में अपना पहला अधिकार प्राप्त करना चाहता है और इस प्रकार अज्ञान और पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसे मौलिक पाप की अवस्था के नाम से पुकारा जाता है। यह धारणा प्रगतिवादी ईसाई धर्म की दृष्टि में बड़ी जघन्य है। यह दल शिकायत करता है कि यह मनुष्य के प्रति घोर निराशावादी दृष्टि-कोण है और कहता है कि वास्तव में मनुष्य के मौलिक पाप नामक कोई चीज नहीं है। उसके मतानुसार, मनुष्य को अनन्त रूप से पवित्र किया जा सकता है और अभ्यास के द्वारा, उचित प्रशिक्षण और शिक्षा के द्वारा मनुष्य को अनन्त रूप से उन्नत किया जा सकता है; यदि उसे समुचित वातावरण प्राप्त हो और शिक्षा एवं अभ्यास उसे सुलभ हो तो धीरे धीरे वह ईश्वर के स्तर तक पहुँच सकता है।

अब संसार के प्रति दृष्टिकोण को लें। परम्परावादी ईसाई धर्म की दृष्टि में संसार एक प्रकार से एक खतरा है। क्यों? इसलिए कि वह बड़ा लुभावना और मोहक है, इसीलिए वह खतरनाक है; क्योंकि इस दल के मता-

नुसार हमें सर्वोपरि ईश्वर को ही प्रेम करना चाहिए। जैसा ईसा मसीह कहते हैं, दो महान् आदेश हैं-- ईश्वर को अपने समस्त मन और प्राणों से, समूचे हृदय और शक्ति से प्यार करो, तथा पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो। परम्परावादी ईसाई धर्म कहता है, 'यह संसार अत्यन्त लुभावना होने के कारण ईश्वर के प्रति हमारे प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी है। हम मानो पथभ्रष्ट हो जाते हैं। हमें संसार के द्वारा फुसला लिया जाता है। हम जीवन की आकर्षक चीजों की ओर खिंच जाते हैं। सफलता, अधिकार, सुख और सम्पत्ति हमें ईश्वर से छीन लेती है।' अतः यह संरक्षणशील ईसाई धर्म इस संसार को एक प्रकार से एक शत्रु के रूप में देखता है। परन्तु प्रगतिशील, मानवतावादी पक्ष कहता है, 'यह तो पूरा.... क्या कहें, मानिकी‡ दृष्टिकोण है!' साधारण तौर पर परम्परावादी दृष्टिकोण के प्रति यही आक्षेप किया जाता है। प्रगतिशील दल का कहना है कि ससार को प्यार करना चाहिए। इस जीवन में हमें मौज करनी चाहिए। हमें इस दुनिया की तरक्की करनी चाहिए। प्रगतिशील मानवतावादी ईसाई धर्म की वास्तव में यही मूल बात है। समाज को अधिक मानवतावादी बनाओ। दुनिया को अधिक अच्छा बनाओ। संसार की उपेक्षा न करो।

---

‡ मानिकी दृष्टिकोण के अनुसार संसार में हर चीज प्रकाश और अन्धकार, अथवा शुभ और अशुभ इन दो प्रमुख तत्वों के मिलन से बनी है।

संसार को शत्रु न समझो बल्कि उसे अपनी बाँहों में ले लो और उसे बेहतर बनाने की कोशिश करो। यही मानवतावादी ईसाइयत का कथन है।

मरणोपरान्त जीवन की धारणा परम्परावादी ईसाइयत का एक दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है। मानव का लक्ष्य स्वर्ग की प्राप्ति है और स्वर्ग में जाकर ईश्वर से मिलित होकर शाश्वत सुख का भोग करना है। कैथोलिक और पूर्वीय संरक्षणशील ईसाइयों की धारणा है कि स्वर्ग कोई काल्पनिक नहीं है वरन् वह सचमुच एक ऐसी जगह है जहाँ हम मृत्यु के उपरान्त जाकर ईश्वर से परम बन्धुत्व प्राप्त करते हैं और शाश्वत एवं श्रेष्ठ सुख के अधिकारी होते हैं। जो ईश्वर से द्रोह करते हैं वे नरक में जाते हैं। नरक ऐसी जगह है जहाँ प्राप्त होनेवाली यातनाओं की तुलना में इस जीवन की यातनाएँ अति नगण्य हैं। मानवतावादी ईसाई धर्म उपर्युक्त धारणा पर कटाक्ष करता है और उसे अस्वीकार करता है। वह कहता है, 'हमें अगले जीवन का विचार नहीं करना चाहिए। यदि कोई अगला जीवन हो भी, तो उसे अपनी परवाह स्वयं कर लेने दो। चाहिए तो यह कि हम इसी संसार पर ध्यान दें, इसे बेहतर बनाने की कोशिश करें और अधिक मानवतावादी समाज के निर्माण में लग जायँ। आकाश में मिलनेवाले भोग्य पदार्थों की परवाह न करो। भगवान् से हरदम डरते रहने की भावना हमें संसार की उपेक्षा करना सिखाती है और हम अपनी आँखों के सामने के समाज

को उपेक्षित कर बैठते हैं।' आधुनिक मानवतावादी ईसाइयत का परम्परावादी ईसाइयत के प्रति यही आक्षेप है।

तो, आपके सामने मैंने अति संक्षेप में ईसाई धर्म के ये दो ध्रुव रखे। परन्तु यहाँ पर मैं यह भी कहना चाहूँगा कि कोई भी व्यक्ति पूरी तरह न तो परम्परावादी खेमे में बैठता है और न मानवतावादी खेमे में ही। कुछ ऐसे हो सकते हैं जो कह सकते हों, 'नहीं, मैं तो पूरी तरह मानवतावादी ईसाइयत के खेमे में हूँ।' परन्तु मेरी समझ में, बहुत से ईसाई यही कहेंगे कि 'मुझे परम्परावादी ईसाई धर्म के अलौकिक सिद्धान्त प्रिय हैं, पर साथ ही मुझे प्रगतिशील ईसाइयत के सामाजिक पक्ष पर जोर देना भी अच्छा लगता है।' अतएव वे कहेंगे, 'मैं एक प्रकार से दोनों पक्षों का मिश्रण हूँ।' तथापि यह भी निश्चित है कि आपमें जो ईसाई जन हैं उनमें से प्रत्येक की सहानुभूति दोनों पक्षों में से किसी एक पर विशेष रूप से होगी।

अब यह विचार करें कि आज की प्रवृत्ति कैसी है? क्या वह पहले दल को पसन्द करती है, या दूसरे को? रोमन कैथोलिक चर्च को एक उदाहरण के तौर पर ले लें। विगत पाँच या छः वर्षों में उसमें प्रभुता के विरोध की भावना जन्मी है और मानवतावादी ईसाइयत की दिशा में उसकी पहल रही है। पोप के अमोघत्व को चुनौती दी गयी है। स्वर्ग और नरक की धारणाएँ तथा

ईसाइयत के कई दूसरे परम्परावादी सिद्धान्त चुनौती के विषय रहे हैं । प्रगतिशील कैथोलिकों एवं प्रोटेटैंस्टों ने अपरिवर्तनशील सत्य की धारणा को चुनौती दी है । अतः हम देखते हैं कि विशेष करके दूसरे वेटिकन के बाद, मानवतावादी ईसाइयत की ओर बहुत जोरों से झुकाव हुआ है। सामाजिक गतिविधियों तथा एक बेहतर दुनिया के निर्माण पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। परम्परा-वादी ईसाइयों की विशेष गतिविधियाँ हैं प्रार्थना करना, दूसरों को अपने धर्म में लाना तथा व्यक्तिगत पावित्र्य के लिए प्रयास करना । प्रगतिशील ईसाई इन बातों को दकियानूसी और पुराण-पन्थी मानता है । वह कहता है, 'दूसरों को अपने धर्म में लाने की परवाह न करो । दूसरे धर्मों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करो ।' जहाँ तक व्यक्तिगत पावित्र्य की प्राप्ति का प्रश्न है, प्रगतिशील ईसाई इसे सम्भवतः अत्यन्त स्वार्थपरायण क्रिया मानता है । वह कहेगा, 'हमें सामाजिक योजनाओं में लगना चाहिए । हमें नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए कोशिश करनी चाहिए । हमें युद्ध-विरोधी जलसों में भाग लेना चाहिए । इस संसार को अधिक अच्छा बनाने के लिए जो कुछ आवश्यक और सम्भव है, हमें वही करना चाहिए। हमें व्यक्तिगत प्रार्थना, साधना या उपासना पर अधिक जोर नहीं देना चाहिए । ये क्रियाएँ घोर व्यक्तिपरक हैं, अत्यन्त स्वार्थ-केन्द्रित हैं ।' यह मनो-भाव मानवतावादी ईसाइयत की दिशा में ही जाता प्रतीत

होता है ।

उदाहरण के लिए मैं डि-पॉल यूनिवर्सिटी के अपने विद्यार्थियों की ही बात रखूँ । मैं विगत पाँच वर्षों से उनका सर्वेक्षण करता रहा हूँ, विभिन्न विषयों पर उनकी राय जानने की मैंने कोशिश की है और गत वर्ष मुझे इस सर्वेक्षण द्वारा जो आँकड़े प्राप्त हुए हैं उनकी विगत पाँच वर्षों में प्राप्त आँकड़ों से तुलना करते हुए आपके समक्ष निम्नोक्त जानकारी रख रहा हूँ । पाँच वर्ष पहले ५३% विद्यार्थी ऐसे थे जिन्होंने परिवार-नियोजन पर परम्परावादी कैथोलिक विचारधारा का समर्थन करते हुए उसे गलत ठहराया । परन्तु इसके बाद हर वर्ष यह प्रतिशत कम होता गया, यहाँ तक कि पिछले साल केवल २०% विद्यार्थी ही इस परम्परावादी विचारधारा के साथ रहे। शेष सभी अधिक मानवतावादी दृष्टिकोण की ओर झुक गये थे ।

दूसरा, चर्च के अमोघत्व को लें । आप जान लें कि उपर्युक्त सभी विद्यार्थी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के हैं । आप यही आशा करते होंगे कि ये सभी विद्यार्थी उस सिद्धान्त के पक्षपाती होंगे जो पोप को अमोघ बताता है यानी यह कहता है कि पोप कभी कोई गलती नहीं कर सकते । पाँच साल पहले ८३% विद्यार्थी इस सिद्धान्त के पक्ष में थे । परन्तु यह प्रतिशत भी वर्ष-पर-वर्ष गिरता गया और पिछले वर्ष केवल ५३% विद्यार्थी ऐसे थे जो चर्च के उक्त सिद्धान्त के पक्ष में थे।

तो, कहने का तात्पर्य यह है कि जिन्हें हम कैथोलिक सिद्धान्तों की विशेषताएँ कहते हैं, उन विशेषताओं की स्वीकृति कैथोलिक विद्यार्थियों द्वारा तेजी से कम होती जा रही है। साथ ही परम्परावादी प्रोटेस्टैंटों और कैथोलिकों के जो सामान्य सिद्धान्त हैं--जैसे, ईसा का ईश्वरत्व, नरक का अस्तित्व आदि, ये भी परित्यक्त होते जा रहे हैं, भले ही उतनी तेजी से न हों जितने कि कैथोलिकों के विशेष सिद्धान्त। पाँच वर्ष पूर्व लगभग ९०% कैथोलिक विद्यार्थी ईसा के ईश्वरत्व में विश्वासी थे। पिछले वर्ष उनकी संख्या लगभग ८२% रह गयी। पाँच साल पहले ७५% विद्यार्थी नरक को स्वीकार करते थे, पिछले साल ये केवल ५०% ही रह गये।

तो यह सूचित करता है कि ईसाई धर्म किस ओर जा रहा है; और जब आप उसमें उठ खड़े होनेवाले विभेदों को देखते हैं तो यह एक संकट को जन्म देता है। विचारों में यह पार्थक्य भले ऊपर से अभी स्पष्ट न दिखे, संघ के स्तर पर दिखायी न दे, पर कैथोलिक चर्च के मानसिक धरातल पर तो उसका जन्म हो गया है।

कुछ समय पूर्व जून (१९६८) महीने के 'ट्रांजैक्शन मैगेझीन' में एक लेख आया था— 'क्या नीति ही ईसाई धर्म की मौत होगी ?' इसके लेखक दो व्यक्ति हैं। एक हैं ग्लॉक, जो ल्यूथेरन ईसाई हैं और दूसरे हैं स्टार्क, जो पहले ल्यूथेरन थे और पिछले कई वर्षों से ईसाई मतामत का सर्वेक्षण कर जिन्होंने पर्याप्त अध्ययन किया है। इन

दोनों का निष्कर्ष भी वही है जो मैंने सूचित किया है कि आज परम्परावादी ईसाइयत की ओर से झुकाव अत्यन्त वेगपूर्वक मानवतावादी ईसाइयत की ओर जा रहा है। इस मानवतावादी ईसाइयत को वे 'नीति' कहना पसन्द करते हैं। वे कहते हैं कि नीति ईसाई धर्म का खात्मा किये दे रही है और वे इस बहाव के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि ये अच्छे लक्षण हैं। कुछ बातें अवश्य ऐसी हैं जो इसके पक्ष में कही जा सकती हैं। मुझे विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द, जो आज से ७५ वर्ष पूर्व शिकागो के प्रथम धर्मसम्मेलन में बोले थे, मानवतावादी ईसाइयत की ओर जानेवाले इन बहावों का पक्ष लेते, क्योंकि उनका एक उपदेश यह था, 'सिद्धान्तों और मतवादों, गिरजाघरों या मन्दिरों की परवाह न करो।' प्रगतिशील ईसाई उनके उपर्युक्त भाव को शत-प्रतिशत प्रतिध्वनित करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने यह भी कहा था कि पहले पुराने धर्म के अनुसार नास्तिक वह था जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था, परन्तु अब नये धर्म में नास्तिक उसे कहा जाता है जो अपने आपमें और मानवता में विश्वास नहीं करता है। उनकी इस बात का भी आज का मानवतावादी, आधुनिकतावादी ईसाई दृष्टिकोण समूचे हृदय से समर्थन करेगा। भले ही स्वामीजी इस नये मानवतावादी ईसाई धर्म की सभी बातों से सहमत न हों, और सम्भवतः जो नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण है उससे तो वे शत-प्रतिशत सहमत होंगे भी नहीं, तथापि, मैं समझता हूँ, साधारण

तौर पर वे इस मानवतावादी प्रवृत्ति के पक्ष में ही होंगे; विशेषतः इसलिए कि वे धर्मों के जिस ऐक्य की आशा करते थे, उसकी स्थापना इस मानवतावादी दृष्टिकोण के द्वारा अधिक सम्भव होगी। प्रगतिशील ईसाइयों में सार्वभौमता और विश्व-बन्धुत्व का अधिक प्रचार है। संरक्षणशील ईसाइयों में से कई इसके प्रति विद्वेष का भाव पोषित करते हैं और अन्य दूसरों का उसके प्रति कोई उत्साह नहीं है। मानवतावादी और प्रगतिशील ईसाइयों में ही विश्व-बन्धुत्व-वादी मिलेंगे।

इसीलिए, मेरी समझ में, यदि स्वामी विवेकानन्द आज यहाँ होते तो उन्होंने मानवतावाद की इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया होता; क्योंकि आज हम धर्मों के बीच खड़ी दीवारों को टूटती देख रहे हैं और यह भी देख रहे हैं कि भविष्य में एक ही विश्व-धर्म का पथ प्रशस्त होता जा रहा है। मुझे पता नहीं कि आप इसके पक्ष में हैं या नहीं। मैं नहीं जानता कि आप परम्परावादी ईसाइयत के साथ हैं अथवा प्रगतिशील ईसाइयत के साथ। पर मैं सोचता हूँ कि हम सब इस एक बात में सहमत हो सकते हैं कि यह धर्म-सम्मेलन जिसका उद्देश्य विभिन्न धर्मों को परस्पर अच्छी तरह समझने का मौका देना है, एक बहुत अच्छी योजना है। हम इसकी सच्चे हृदय से प्रशंसा करते हैं।

●

लघु कथा

# बौना अस्तित्व

## डा. प्रणवकुमार बनर्जी

मनुष्य और उसका अस्तित्व-बोध । . . .

दोनों पृथ्वी के धरातल से ऊपर उठकर महाकाश को लाँघने चले । चन्द्रमा ने अपनी अनुपम स्निग्धता बिखेर-कर कहा, 'आओ, मुझे अपनी यात्रा का प्रथम सोपान बना लो । मैं ज्योत्स्ना दूँगा––महाकाश के अन्धकार-अनन्त की राह को उससे सींच लेना ।'

मनुष्य और उसके अस्तित्व-बोध के लिए यह सुगम आवाहन था । उन्होंने चन्द्रतल पर अपने चरण रख दिये ।

अन्धकार-अनन्त की जिज्ञासा की ओर यह एक अकल्पनीय क्षण था––थी मानवीय पथचारण के इतिहास की एक अपूर्व सन्धि । मनुष्य का मन एकबारगी सफलता के अहंकार से भर उठा ।

किन्तु तभी उसके अस्तित्व-बोध की आकृति सहसा छोटी पड़ गयी । उसने चौंककर कहा, 'यह क्या ?'

चन्द्रमा की स्निग्धता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । उसने हँसकर कहा, 'मैंने तुम्हें साहचर्य देने की बात कही थी––अहंकार से भर उठने का आवाहन तो नहीं कियाथा । अहंकार से हमेशा ही आकृति छोटी हो जाया करती है !'

●

# अधिकार-मद

**सन्तोषकुमार झा**

एक बार देवराज इन्द्र से ब्रह्महत्या हो गयी। इस हत्या के सन्ताप से वे बड़े दुखी हुए तथा स्वर्ग का राज्य छोड़कर किसी अज्ञात स्थान को चले गये। उनके चले जाने पर स्वर्ग की राज्य-व्यवस्था चलाने की समस्या उत्पन्न हुई। सभी देवता चाहते थे कि स्वर्ग की राज्य-व्यवस्था उत्तम रीति से चले, किन्तु उचित व्यवस्था करने का दायित्व अपने कन्धों पर कोई लेना नहीं चाहता था। अन्त में विद्वान् ऋषि-मुनियों से परामर्श कर उन्होंने यह निश्चय किया कि पृथ्वी के महान् तेजस्वी तथा धर्मात्मा राजा नहुष से प्रार्थना की जाय कि वे स्वर्ग का राज्य स्वीकार कर यहाँ की व्यवस्था करें।

ऐसा विचार कर देवगण राजा नहुष की सभा में उपस्थित हुए। देवताओं को अपनी सभा में आया देख नहुष बहुत प्रसन्न हुए। उनका यथोचित स्वागत कर उन्होंने कहा, "देवगण! आप लोगों ने मेरी राजसभा में आने का कष्ट कैसे किया? आज्ञा दीजिए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

देवताओं ने कहा, "राजन्! शतक्रतु इन्द्र किसी अज्ञात स्थान को चले गये हैं। स्वर्ग में अभी कोई राजा नहीं

है। बिना राजा के स्वर्ग की व्यवस्था कठिन हो रही है। आप इस पृथ्वी के पराक्रमी एवं नीतिनिपुण शासक हैं। आपको राज-काज का यथेष्ट अनुभव भी है। अतः हमारी प्रार्थना है कि आप स्वर्ग का राज्य स्वीकार कर उसकी समुचित व्यवस्था करें।"

देवताओं का प्रस्ताव सुन नहुष सकुचा गये। विनीत स्वर में उन्होंने कहा, "देवगण! मैं तो अत्यन्त दुर्बल हूँ। मुझमें स्वर्ग की व्यवस्था तथा आप लोगों की रक्षा करने का सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं स्वर्ग का राज्य स्वीकार करने में अपने को असमर्थ अनुभव करता हूँ।"

देवों और ऋषियों ने आश्वस्त करते हुए नहुष से कहा, "राजन्! तुम अपनी दुर्बलता की चिन्ता न करो। तुम्हें देव, गन्धर्व और सिद्ध ऋषि-मुनियों द्वारा शक्ति प्राप्त होगी। उस शक्ति से तुम स्वर्ग का राज्य चलाने में समर्थ हो सकोगे।"

अधिकार की लिप्सा मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। संसार का छोटे से छोटा व्यक्ति भी बड़े से बड़ा अधिकार प्राप्त करने की लालसा रखता है। यदि अवसर और सुविधा प्राप्त हो तो अनधिकारी तथा अयोग्य व्यक्ति भी अधिकार-प्राप्ति के लिये जूझ पड़ता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि जिस अधिकार को प्राप्त करने का वह प्रयत्न कर रहा है उसे वहन करने की सामर्थ्य भी उसमें है या नहीं। संसार में प्रायः यही दीख पड़ता है कि अधिकार-लिप्सा के वशीभूत हो अधिकांश व्यक्ति अपनी

योग्यता से अधिक अधिकार ग्रहण कर लेते हैं; परिणाम-स्वरूप अधिकार-सुरा से मत्त हो पतित और अधिकारच्युत होकर दुःख भोगते हैं। संसार में विरले विवेकी व्यक्ति ही अधिकार के प्रलोभनों के अवसर पर अपनी पात्रता का विचार करते हैं और तदनुसार अधिकार ग्रहण करते हैं।

नहुष पृथ्वी के राजा थे ही; उन्होंने अधिकार का यथेष्ट रस लिया था। किन्तु फिर भी एक बार उनके विवेक ने कहा, "नहुष ! तुम इस अधिकार को ग्रहण करने के पात्र नहीं हो।" विवेक की इस चेतावनी को नहुष ने देवताओं के सम्मुख प्रकट भी किया। किन्तु देवताओं द्वारा शक्ति-प्राप्ति का आश्वासन पाकर उनके अन्तःकरण में छिपी अधिकार-प्राप्ति की वासना ने सिर उठाया। वे सोचने लगे, "मैंने तो स्वर्ग का राज्य माँगा नहीं और न ही उसे पाने की कभी चेष्टा की। वह तो स्वयं मुझे प्राप्त हो रहा है। फिर देवताओं और ऋषियों ने मुझे शक्ति भी देने का आश्वासन दिया है।...." इसी समय अहंकार ने पूर्ति की, "....मैं भी तो पृथ्वी का राजा हूँ। मुझमें राज-काज चलाने की योग्यता है; तभी तो देवताओं ने स्वर्ग का राज्य चलाने के लिए मुझे चुना है।"

अधिकार-लिप्सा और अहंकार के कोलाहल में विवेक की ध्वनि लुप्त हो गयी। राजा नहुष ने देवताओं का आग्रह स्वीकार कर लिया। स्वर्ग के सिंहासन पर उनका अभिषेक कर उन्हें स्वर्ग का राजा बना दिया गया।

पृथ्वी पर राजा नहुष धर्मात्मा कहे जाते थे। उन्होंने अनेक धार्मिक अनुष्ठान तथा यथेष्ट दान-पुण्य भी किये थे। किन्तु स्वर्ग का राज्य प्राप्त होने के पश्चात् उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आ गया। असीम अधिकार और अतुलनीय भोग-सामग्री उनके चरणों पर लोट रही थी। अधिकार के साथ यदि भोग की सुविधा उपलब्ध हो तो भोग-वासना सहस्र जिह्वा होकर मनुष्य का भोग करने लगती है। ऐसा व्यक्ति कामान्ध हो विवेकशून्य हो जाता है।

नहुष की भी यही दशा हुई। स्वर्ग में उपलब्ध भोग-सामग्रियों में आकण्ठ डूबकर वे नन्दनवन आदि देव-उद्यानों में क्रीड़ारत रहने लगे। भोगों में रत हो जाने के कारण उनके मन के धार्मिक संस्कार धीरे धीरे क्षीण होने लगे। हृदय ही धर्म का आवासस्थान है। जिस प्रकार एक म्यान में एक साथ दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार एक ही हृदय में धर्म और भोग साथ साथ नहीं रह सकते। नहुष के हृदय में भोगजन्य अधर्म के संस्कार प्रविष्ट होने लगे और धर्म के संस्कार नष्ट होते चले। धर्म के संस्कारों के नष्ट होते ही मनुष्य पशु हो जाता है। निम्न वासनाएँ उस पर पूरी तरह अधिकार कर लेती हैं। ऐसे व्यक्ति का जीवन विवेक-चालित न होकर वासना-चालित हो जाता है।

एक दिन नहुष देवोद्यान में क्रीड़ारत थे। अचानक उनकी दृष्टि एक अनिन्द्य सुन्दरी पर पड़ी। उन्होंने दासियों से पूछा, "यह सुन्दरी कौन है?"

एक दासी ने निवेदन किया, "महाराज! ये शतक्रतु इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी हैं। इन्द्र के अदृश्य हो जाने के कारण बड़ी दुखी रहती हैं।"

विषयी नहुष लोलुप दृष्टि से शचि की ओर देखता रहा। इन्द्राणी लज्जित हो वहाँ से चली गयीं। अधिकार-मद से मत्त नहुष ने दूसरे दिन अपने सभासदों से कहा, "मैं स्वर्ग का अधिपति हूँ। स्वर्ग की सभी वस्तुओं पर मेरा अधिकार है। किन्तु इन्द्राणी अभी तक मेरी सेवा में उपस्थित नहीं हुई। उसे आज मेरे महल में आना चाहिए।"

लम्पट नहुष की घृणित आज्ञा सुनकर शचि बहुत दुखित और भयभीत हुईं। अपनी रक्षा का उपाय न देख वे देवगुरु बृहस्पति की शरण में गयीं। रोते हुँए उन्होंने गुरुदेव को नहुष की दुष्टता का समाचार सुनाया और अपनी रक्षा की प्रार्थना की।

महर्षि बृहस्पति ने अभयदान देते हुए शचि से कहा, "महारानी! चिन्ता न करो। तुम मेरी शरण में आयी हो। मैं अवश्य तुम्हारी रक्षा करूँगा। नहुष के पापों का घड़ा भर रहा है। अपने कुकर्मों के कारण वह स्वयं नष्ट हो जायेगा।"

इधर नहुष को जब यह समाचार मिला की शचि बृहस्पति की शरण में गयी हैं, तो वह बहुत क्रोधित हुआ। देवताओं ने उसे बहुत समझाया कि आप स्वर्ग के अधिपति हैं, क्रोध करना आपके लिए उचित नहीं है। ऋषियों ने पर-नारी पर कुदृष्टि डालने से होने-

वाले पाप की चेतावनी देकर उसे इस कुकृत्य से निवृत्त करना चाहा। किन्तु मन्दबुद्धि नहुष ने एक न सुनी। उल्टे देवताओं को आदेश दिया कि बृहस्पति के घर जाकर शचि से कहो कि वह मेरी सेवा में उपस्थित हो।

विवश होकर देवगण आचार्य बृहस्पति के पास गये और उन्हें नहुष की नीचतापूर्ण आज्ञा का हाल सुनाकर शचि को उसके पास भेजने की प्रार्थना की। देवताओं की बात सुनकर शचि फूट-फूटकर रोने लगीं। आचार्य बृहस्पति ने ढाढ़स बँधाते हुए कहा, "महारानी ! दुखी मत होओ। तुम नहुष की सभा में जाकर उससे कहो कि वह तुम्हें थोड़ा समय दे। इस बीच तुम एक बार पुनः इन्द्र की खोज करना। इन्द्र से तुम्हारी भेंट हो जायेगी और वे तुम्हारी रक्षा का उपाय बतलायेंगे।"

आचार्य की बातों से आश्वस्त हो इन्द्राणी नहुष की सभा में गयीं और उससे कहा, "महाराज ! मैं आपकी सेवा में उपस्थित होने के लिए प्रस्तुत हूँ। किन्तु उसके पूर्व मुझे एक बार अवसर दीजिए कि मैं इन्द्र को पुनः ढूँढ़ लूँ। यदि इन्द्र का पता नहीं लगा तो मैं आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी।"

नहुष ने कहा, "सुन्दरी ! मैं तुम्हें इन्द्र को ढूँढ़ने का समय देता हूँ। किन्तु अपने वचनों का स्मरण रखना। यदि इन्द्र का पता न लगे तो मेरी सेवा में उपस्थित हो जाना।"

नहुष की सभा से लौटकर शचि पुनः बृहस्पति के

घर आयीं। लौटकर उन्होंने नहुष से हुई चर्चा का हाल आचार्य को सुनाया। आचार्य ने शचि से देवी उपश्रुति की उपासना करने के लिए कहा। शचि की प्रार्थना सुनकर देवी वहाँ प्रकट हुईं। शचि उनके चरणों पर गिर पड़ीं तथा उनसे अपने पति के दर्शन करा देने की प्रार्थना की। देवी ने शचि को उस स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ इन्द्र अज्ञातवास कर रहे थे। अपने पति को देखकर इन्द्राणी गद्‌गद् हो उठीं। उसी समय वहाँ आचार्य बृहस्पति और अन्यान्य देवतागण भी आ गये। उन सबने नहुष की उद्‌दण्डता का समाचार इन्द्र को सुनाया। कुछ देवताओं ने तो पराक्रम द्वारा नहुष को राज्यच्युत कर, उसे दण्ड देने की भी बात कही।

किन्तु इन्द्र ने कहा, "देवगणो, नहुष इस समय स्वर्ग का राजा है। उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं। यह समय पराक्रम का नहीं है। शक्ति से उस पर विजय पाना कठिन है। वह शीघ्र ही अपने पापों से नष्ट हो जायेगा। अभी हमें धैर्यपूर्वक नीति से काम लेना चाहिए।"

देवताओं को समझाकर इन्द्र ने शचि से कहा, "महारानी ! तुम नहुष के पास जाओ तथा उससे कहना कि यदि आप सिद्ध ऋषियों द्वारा अपनी पालकी उठवाकर मेरे भवन में पधारें तो मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके आधीन हो जाऊँगी। शुचिस्मिते, निश्चय जानो इस उपाय द्वारा दुष्ट नहुष का पतन अवश्य हो जायेगा।"

पति की आज्ञा शिरोधार्य कर शचि नहुष की राजसभा

में उपस्थित हुईं और उससे कहा, "महाराज ! अभी तक इन्द्र का कोई समाचार मुझे न मिल सका । अब मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत हो जाऊँगी । किन्तु एक निवेदन है ।"

विषयलोलुप नहुष ने बीच में ही कहा, "कहो सुन्दरी, तुम किस बात से प्रसन्न होओगी ? तुम्हें जो रुचिकर हो मैं वही करूँगा ।"

शचि बोलीं, "राजन् ! यदि आप सिद्ध ऋषियों द्वारा अपनी पालकी उठवाकर मेरे भवन में पधारें तो मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके आधीन हो जाऊँगी ।"

काम अपने शरों से विवेक की आँखों पर प्रथम प्रहार करता है, क्योंकि जब तक विवेक की आँखें खुली हैं, जब तक वह सजग होकर देख रहा है, तब तक काम मनुष्य के हृदय में प्रवेश नहीं पा सकता । नहुष अधिकार-मद से मत्त था ही, अतः काम के प्रथम प्रहार ने ही उसके विवेक को अन्धा बना दिया ।

उसने सगर्व शचि से कहा, "सुन्दरी, सचमुच तुम प्रशंसा की योग्य हो । तुमने मेरे लिए ऐसा उत्तम वाहन सुझाया है जिस पर अभी तक त्रैलोक्य के स्वामी विष्णु भी नहीं बैठे हैं । मैं अवश्य ऋषियों द्वारा पालकी उठवा-कर तुम्हारे भवन में आऊँगा ।"

कामान्ध नहुष यह भूल गया कि जिन महर्षियों को स्वयं भगवान् विष्णु प्रणाम करते हैं, जिनकी शक्ति का लोहा देवराज इन्द्र मानते हैं, उन्हीं को वह अपनी

पालकी का वाहक बनाना चाहता है ।

दूसरे दिन नहुष ने अगस्त्य आदि सिद्ध ऋषियों को अपनी सभा में बुलवाया । यथासमय ऋषिगण सभा में आये । किन्तु उद्धत नहुष ने उनका अभिवादन तक नहीं किया । सभाभवन में एक सुन्दर सजी-धजी पालकी रखी थी । ऋषियों को आया देख नहुष उस पर बैठ गया और ऋषियों को आज्ञा दी, "पालकी अपने कन्धों पर उठाओ और मुझे शचि के भवन में ले चलो ।"

नहुष की आज्ञा सुनकर सभी सभासद स्तब्ध रह गये । निर्विकार ऋषियों ने पालकी उठायी और चलने लगे । कृषकाय तपस्वियों के लिए यह कार्य कठिन था, अतः वे धीरे धीरे चल रहे थे । पर नहुष काम की वासना से जल रहा था । वह तो उड़कर शचि के पास पहुँच जाना चाहता था । ऋषियों को धीरे चलते देख वह अधीर हो 'सर्पं ! सर्प !'—'जल्दी चलो, जल्दी चलो' कहने लगा । फिर भी अगस्त्य को जल्दी न चलते देख वह क्रुद्ध हो उठा और आवेश में आकर उनके मस्तक पर लात मार दी । इस अपमान से ऋषि क्रोधित हो उठे और नहुष को श्राप देते हुए बोले, "रे दुष्ट ! तू कामान्ध हो मर्यादा का अतिक्रमण कर 'सर्प सर्प' चिल्ला रहा है, तो जा, तू सर्प ही हो जा !"

नहुष के पाप का घड़ा भर चुका था । ऋषि के श्राप से वह तुरन्त मर्त्यलोक में गिर पड़ा और दस सहस्र वर्ष तक अजगर-योनि में कष्ट भोगता रहा ।

पद-लोलुपता और स्वार्थ के इस युग में समाज में अधिकार-प्राप्ति की होड़ लगी है। पुत्र पिता से अधिकार माँगता है। सेवक स्वामी का अधिकार चाहता है। अधिकारी और शासक अधिकार छोड़ना नहीं चाहते। कोई भी व्यक्ति अधिकार प्राप्त करने के पूर्व अपनी योग्यता और पात्रता का विचार नहीं करता। ऐसे संक्रान्ति के कठिन समय में महाभारत की यह कथा, समुद्र में भटके नाविक के लिए ध्रुव तारे के समान, हमारा मार्ग-दर्शन करती है। यह हमें चेतावनी देती है कि अधिकार प्राप्त करने के पूर्व यदि हमने स्वयं को उस अधिकार को ग्रहण करने के योग्य नहीं बना लिया तो निस्सन्देह हमारा विवेक अन्धा हो जायेगा और हम स्वयं ही अपने पतन और विनाश के कारण होंगे।

●


**रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य**

**पढ़िये और उपहार में दीजिये**

१. श्रीरामकृष्ण लीलामृत (दो भाग) सेट १०)
२. श्रीरामकृष्ण वचनामृत (तीन भाग) सेट २०) ५०
३. श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग (तीन भाग) सेट २६)
४. माँ सारदा ६); ५. विवेकानन्द चरित ७)
६. विवेकानन्द-ग्रंथावली (दस भाग) सेट ६०)
७. परमार्थ प्रसंग ३॥)
८. श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ ३)६०

# गुरु गोविन्दसिंह

प्राध्यापक रामेश्वर नन्द

हिन्दू धर्म और संस्कृति के रक्षकों की पंक्ति में गुरु गोविन्दसिंह को वही स्थान प्राप्त है जो छत्रपति शिवाजी को। दोनों महापुरुषों ने धर्मान्ध औरंगजेब के राज्यकाल में अपना महान् कार्य किया था। इनके युग को तुर्कों और म्लेच्छों की सहायता से सबल मुगल साम्राज्य का प्रखर मध्याह्न काल कहा जा सकता है। औरंगजेब का शासन हिन्दू-विरोधी होने के साथ ही धर्मोन्मत्त भी था तथा उस काल में धर्म के नाम पर अनेक नृशंस अत्याचार किये गये थे।

ऐसे संकटकाल में एक विशिष्ट उद्देश्य को लेकर गुरु गोविन्दसिंह जन्म ग्रहण करते हैं। उन्होंने अपने जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा है, "धरम चलावन संत उबारन, दुस्ट सभन को मूल उपारन।" उनके समय तक मुगल शासन की छः शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। विजातियों के लगातार आक्रमण से और पारस्परिक कलह एवं विघटनवादी प्रवृत्तियों के कारण हिन्दू समाज जर्जर हो गया था। सारा देश रियासतों में बँट गया था और अखण्ड राष्ट्रीय भावना जैसी कोई वस्तु भारतीयों के मन में नहीं थी। हिन्दू और मुसलमानों के बीच इतना अलगाव आ गया था कि सूफियों और कबीर जैसे निर्गुणिये

सन्तों के प्रयास का कोई फल नहीं निकला । सारे भारत में साम्प्रदायिकता व्याप्त थी ।

गुरु गोविन्दसिंह का जन्म ईस्वी सन् १६६६ के २६ दिसम्बर को हुआ था । उनके पिता सिक्खों के नवम गुरु तेगबहादुर थे तथा उनकी माता का नाम गूजरी था । उन दिनों औरंगजेब हिन्दू समाज को नष्ट करने के लिए तुला हुआ था तथा काश्मीर के हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना रहा था । काश्मीरी ब्राह्मण बड़े विद्वान् माने जाते थे तथा औरंगजेब का विचार था कि इनको मुसलमान बना लेने पर शेष हिन्दू बड़ी आसानी से मुसलमान बन जायेंगे । धर्म-परिवर्तन के सभी तरीके अपनाये जा रहे थे । काश्मीर के सूबेदार शेर अफगन के अत्याचारों की सीमा नहीं थी । उसके दुष्कर्मों से त्रस्त ब्राह्मणों का एक वर्ग गुरु तेगबहादुर के पास आया । सारा समाचार सुनकर गुरु ने कहा, "इस समय धर्म-रक्षा का एक ही उपाय है और वह यह कि किसी बड़े धर्मात्मा पुरुष को आत्म-बलिदान करना होगा ।" तब गुरु गोविन्दसिंह की आयु नौ वर्ष की थी । वे भी वहाँ उपस्थित थे । पिता की बात सुनकर उन्होंने कहा, "पिताजी, इस समय आपसे बढ़कर धर्मात्मा पुरुष और कौन है ?" गुरु तेगबहादुर ने अपने पुत्र की बात मान ली और काश्मीरी ब्राह्मणों से कहा, "जाइए, औरंगजेब से कह दें कि गुरु नानक की गद्दी पर इस समय तेगबहादुर आसीन हैं । यदि वे इस्लाम स्वीकार कर लेंगे तो हमें भी अपना धर्म-

परिवर्तन करने में कोई आपत्ति नहीं होगी।" जब औरंगजेब को यह बात मालूम हुई तब उसने गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलवाकर बन्दी बना लिया। गुरु को मुसलमान बनाने की काफी कोशिशें हुईं पर जब कोई उपाय कारगर न हुआ तो उनकी हत्या कर दी गयी। महापुरुषों का बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। गुरु तेगबहादुर के बलिदान के दिन से ही औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की कब्र खुदनी शुरू हो गयी और दूसरी ओर सिक्खों में एक नयी प्राणवत्ता और उत्साह का संचार हुआ। गुरु गोविन्दसिंह इसी नवजागृत तेजस्विता के प्रतीक थे।

गुरु गोविन्दसिंह का जन्म पटना में हुआ था तथा यहीं उन्होंने छः वर्ष व्यतीत किये थे। बाद में वे पंजाब चले आये। उन्हें पिता का सान्निध्य अधिक दिनों तक नहीं मिला। पिता के बलिदान के बाद वे आठ वर्षों तक पंजाब के आनन्दपुर नामक स्थान में रहे। इन आठ वर्षों में वे शास्त्र और शस्त्र दोनों में पारंगत हो गये। उनके पिता को अपने बलिदान का आभास हो गया था इसलिये उन्होंने दिल्ली जाने के पहले ही नौ वर्षीय गोविन्दसिंह को गुरु की गद्दी पर बिठा दिया था। शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुरु गोविन्दसिंह के समक्ष इतस्ततः बिखरे हुए सिक्खों को एकत्र करने तथा उनमें ऐक्य का भाव भरने का दायित्व उपस्थित हुआ। इसलिए उन्होंने दूर-दूर तक फैले सिक्खों से सम्पर्क स्थापित किया तथा उनसे धन और शस्त्रों की प्राप्ति की। कुछ ही समय में

वे एक छोटी सी सेना के निर्माण में सफल हो गये और उन्होंने अपनी सेना को युद्धनीति में कुशल बना दिया। फिर वे पाँवटा चले आये। यहाँ वे तीन वर्षों तक रहे और कृष्ण-भक्तिपरक पदों की रचना की। इस भक्तिपूर्ण रचना में भी गुरु गोविन्दसिंह की देशभक्ति और धर्मयुद्ध की भावना स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उन्होंने लिखा है--

दसम कथा भागौत की भाखा करी बनाइ।
अवर वासना नाहि प्रभु धरम जुद्ध को चाइ।।

गुरु गोविन्दसिंह जाति-पाँति में आस्था नहीं रखते थे तथा उन्होंने अनेक शूद्रों और निम्न जातियों के व्यक्तियों को गले लगाया था। उनका कहना था--

कोउ भयो मुँडिया संन्यासी कोउ जोगी भयो,
कोउ ब्रह्मचारी कोउ जाति अनुमानबो।
हिन्दू तुरक कोउ राफजी इमाम साफी,
मानस की जात सबै एकै पहिचानबो।।
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।
एक ही को सेव, सभही को गुरुदेव एक,
एक ही सरूप सबै एकै जोति जानिबो।।

गुरु के उदारवादी दृष्टिकोण से तत्कालीन कुछ हिन्दू नरेश चिढ़ से गये और गुरु की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित भी हो गये। गुरु गोविन्दसिंह ने उपेक्षित वर्ग के व्यक्तियों को भी अपनाया था फलतः उच्चवर्गीय हिन्दू उनसे द्वेष करने लगे। इस द्वेष का परिणाम धर्मयुद्ध के

रूप में सामने आया तथा गुरु को श्रीनगर गढ़वाल के राजा फतेह शाह से लड़ना पड़ा। यद्यपि फतेह शाह को अन्य पहाड़ी नरेशों का सहयोग भी मिला था पर युद्ध में उसकी हार ही हुई। अब गुरु को पहाड़ी राजाओं का भी सहयोग मिला। उन्होंने औरंगजेब को कर देना बन्द कर दिया। उन दिनों औरंगजेब दक्षिण में था। उसने अलिफ खाँ और जुल्फिकार खाँ को एक बड़ी सेना के साथ गुरु तथा पहाड़ी नरेशों से युद्ध करने भेजा। नागौद के निकट मुसलमानी सेना की गुरु की सेना के साथ मुठभेड़ हुई जिसमें मुसलमान परास्त हुए। इसके बाद गुरु ने अनेक बार लड़ाइयाँ लड़ीं और मुसलमानों के दाँत खट्टे किये।

गुरु गोविन्दसिंह का एक महत्त्वपूर्ण कार्य खालसा पन्थ का निर्माण था। उनके शिष्य भारत के अलावा अफगानिस्तान और ईरान में भी फैले हुए थे। गुरु जानते थे कि देश को स्थायी सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक स्थायी संगठन अत्यावश्यक है। इसलिए उन्होंने आनन्दपुर में अपने शिष्यों का एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में गुरु अपने हाथ में नंगी तलवार लेकर बोले, "है कोई ऐसा जो धर्म के नाम पर अपना प्राण दे सके।" क्षण भर के सन्नाटे के बाद खत्री दयाराम ने खड़े होकर कहा, "मैं तैयार हूँ।" गुरु उसे लेकर खेमे के अन्दर घुसे और थोड़ी देर के बाद बाहर निकल आये। इस बार उनकी तलवार खून से

लथपथ थी। उनके शिष्यगण दयाराम के हश्र का अन्दाज लगा ही रहे थे कि गुरु ने फिर ललकारा, "है कोई और जो धर्म के लिये अपने प्राण दे सके ?" इस बार जाट धर्मदास खड़ा हुआ। गुरु उसके साथ फिर खेमे में घुसे और फिर खून से सनी तलवार के साथ बाहर आये। उन्होंने फिर वही ललकार लगायी। इस प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवीं बार धोबी मोहकमचन्द, रसोइया जगन्नाथ पुरी और नाई साहबचन्द आगे आये। गुरु के शिष्य उनकी रक्त से सनी तलवार को देखकर आश्चर्य और भय में डूबे हुए थे। वे सोच रहे थे कि क्या सचमुच गुरु ने पाँचों को धर्म के नाम पर काट डाला है। पर कुछ ही देर के बाद गुरु उन पाँच शिष्यों को नये वस्त्रों में सजाकर बाहर निकले और उन्हें 'पंज प्यारे' कहकर सम्बोधित किया। असल में गुरु के खेमे में कुछ बकरे रखे गये थे तथा उनकी तलवार में उन्हीं का खून लगा हुआ था। अन्य शिष्य अपनी कायरता पर बड़े लज्जित हुए। गुरु ने इन पाँच शिष्यों को दीक्षा दी और वे स्वयं उनसे दीक्षित हुए। 'गुरु ही शिष्य और शिष्य ही गुरु' का यह आदर्श एकदम नया था। इसीलिए किसी कवि ने लिखा है :

तीसर पंथ चलाइअन बड़ शूर गहेला।
वाह वाह गोविन्दसिंह आपे गुरु चेला ।।

'खालसा' शब्द की व्याख्या करते हुए गुरु गोविन्दसिंह ने बताया था--"जो सत्य की ज्योति को सदैव

प्रज्वलित रखता है, जो एक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं मानता, जिसका उसी में पूर्ण प्रेम और विश्वास है और जो भूलकर भी मृत व्यक्तियों की समाधियों या कब्रगाहों में नहीं जाता, ईश्वर के निश्छल प्रेम में ही जिसका तीर्थ, दया, दान, तप और संयम समाहित है और जिसके हृदय में पूर्ण ज्योति का प्रकाश है वही पवित्रहृदय व्यक्ति खालसा है।"

पन्द्रह दिनों में ही लगभग अस्सी हजार व्यक्ति खालसा मत में दीक्षित हुए। गुरु ने अपने प्रत्येक शिष्य को नाम के अंत में 'सिंह' जोड़ने का आदेश दिया और थोड़े ही दिनों में भारत में सिंहों ने ऐसी दहाड़ लगायी जिससे मुगल शासन काँप उठा और 'वाहि गुरुजी का खालसा। वाहि गुरुजी की फतेह' के नारे से आकाश गूँजने लगा। पर यह काम सहज नहीं था। जैसे-जैसे गुरु के संगठन और उनकी सैन्य-शक्ति में विकास हुआ, वैसे-वैसे मुगल शासकों के साथ उच्चवर्गीय हिन्दू तथा अन्य राजा भी चौकन्ने हो उठे। उन दिनों गुरु आनन्दपुर में निवास कर रहे थे जो कहिलर राज्य के अधीन था। कहिलर के राजा ने गोविन्दसिंह को पत्र लिखा कि या तो वे अपने स्थान का किराया दें या आनन्दपुर को छोड़कर अन्यत्र चले जायें। गुरु ने जवाब दिया, "यह भूमि मेरे पिता ने मूल्य चुकाकर खरीदी है। इसके पहले इसका कोई किराया नहीं दिया गया था और न भविष्य में ही दिया जायेगा।" कहिलर के राजा को बहाना मिल गया

और उसने मुगलों से सहायता लेकर गुरु पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना में बीस हजार सैनिक थे पर गुरु के पास केवल आठ हजार लड़ाके ही थे। फिर भी गुरु की ही जीत हुई। पराजित राजा ने औरंगजेब को खालसा साम्राज्य का भय दिखाकर सहायता की याचना की। फलतः औरंगजेब ने फिर एक बड़ी सेना गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इस बार फिर खालसा की जीत हुई। कहिलर के राजा अजमेरचन्द ने विवश होकर गुरु से सन्धि कर ली। गुरु आनन्दपुर लौट आये। यहाँ उन्होंने आनन्दगढ़ नामक किले का निर्माण कराया। पर पहाड़ी राजाओं का कोई भरोसा नहीं था। वे पुनः मुगलों से मिलकर उन्हें गुरु के विरुद्ध उकसाते रहे। फलतः औरंगजेब ने सैय्यद बेग और अलिफ खाँ को फिर से गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजा। सैय्यद बेग गुरु को देखते ही मुग्ध हो गया और उनके पक्ष में जा मिला। यह देखकर अलिफ खाँ भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ। पर मुगल चुप बैठनेवाले नहीं थे। औरंगजेब ने फिर अपनी तैयारी शुरू कर दी और बाईस पहाड़ी राजाओं का सहयोग प्राप्त कर एक विशाल मुगल सेना को गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजा। आनन्दगढ़ चारों ओर से घेर लिया गया। धीरे-धीरे किले का अन्न और जल समाप्त हो गया। बाहर से जल लाने के लिए चार सिक्ख किले से निकलते। दो सिक्ख मुगलों से लड़ते और दो जल लेकर किले में पहुँचते। इसके सम्बन्ध में 'गुरु

शोभा' नामक ग्रन्थ में लिखा है :

चारि सिक्ख पानी को जावें ।
दो जूझें दो पानी लावें ।।

इसी स्थिति में गुरु को किले में आठ महीने बिताने पड़े । अन्त में किला छोड़ने का निश्चय किया गया । २१ दिसम्बर, सन् १७०४ की रात को अँधेरे में गुरु अपनी माता, पत्नियों, चारों पुत्रों और शेष सिक्खों के साथ बाहर निकले । कुछ ही दूर पर वे फिर मुगलों से घिर गये । इधर सिक्खों ने मुगलों को लड़ाई में उलझाये रखा और उधर गुरु अपने उन्नीस वर्षीय पुत्र अजीतसिंह और चौदह वर्षीय पुत्र जुझारसिंह के साथ चमकौर गढ़ी नामक स्थान में पहुँच गये । उनके दो अन्य पुत्र जोरावरसिंह और फतहसिंह, जो क्रमशः ९ और ७ वर्ष के थे, अपनी दादी के साथ रसोइये गंगाराम के गाँव की ओर बढ़ने लगे । पर गंगाराम विश्वासघाती निकला और धन के लोभ से उसने इन लोगों को सरहिन्द के सूबेदार वजीर खान को सौंप दिया । औरंगजेब ने इन बालकों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए काफी फुसलाया पर वे बालक धर्म बदलने के लिये राजी नहीं हुए । औरंगजेब ने अपना गुस्सा इन दुधमुँहों पर उतारा और उन्हें जिन्दा दीवार में चुनवा दिया । गुरु की माता गूजरी इस दुःख को न सह सकी और उसने अपने प्राण त्याग दिये ।

इसके बाद गुरु पर लगातार विपत्तियाँ आती गयीं । कितने ही दिन उन्होंने आक के पत्तों को खाकर भूख

शान्त की और कितनी ही रातें आसमान के नीचे गुजारीं। ऐसे समय में नबी खाँ और गनी खाँ नामक दो पठानों ने गुरु की बड़ी सहायता की और उन्हें मुसलमान फकीरों का सा कपड़ा पहनाकर मुगलों से बचाया। युद्धों का यह क्रम औरंगजेब के जीते तक चलता ही रहा। उसके मरने के बाद उसके दो बेटों आजम और मुअज्जम में गद्दी के लिये झगड़ा शुरू हो गया। मुअज्जम ने गुरु से सहायता माँगी और अन्त में वह विजयी हुआ। यही मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से प्रख्यात है। वह गुरु का बड़ा आदर करता था। उसके शासन-काल में गुरु ने आगरा में डेरा डाला। दूर-दूर से भक्त-गण गुरु के दर्शनों के लिए आने लगे। इसी समय नान्देड़ नामक स्थान में गुरु की भेंट माधोदास नामक जादूगर से हुई। माधोदास ने गुरु पर अपने अनेक जादू चलाये किन्तु गुरु पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह देखकर माधोदास गुरु का शिष्य बन गया। यह माधोदास ही आगे चलकर बन्दा बैरागी के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसने धर्म के लिये अपना अनुपम आत्म-बलिदान किया था। गुरु के बाद उनकी गद्दी बन्दा बैरागी को ही मिली।

गुरु की जीवनलीला नान्देड़ में समाप्त हुई। एक मुसलमान भक्त का स्वाँग रचकर प्रतिदिन गुरु के वचन सुनने आया करता था और गुरु पर प्रहार करने का अवसर देखता रहता था। एक दिन सायंकाल गुरु अकेले ही बैठे थे। गुरु ने उसे प्रसाद दिया। उसने प्रसाद तो

ग्रहण किया पर साथ ही गुरु पर छुरा भी चला दिया। गुरु ने भी तत्काल तलवार से उसका सिर काट लिया। इस प्रकार बयालीस वर्ष में ही गुरु का जीवन-दीप बुझ गया।

गुरु गोविन्दसिंह जाति और धर्म की संकीर्णता से ऊपर उठे हुए महापुरुष थे। उनमें अध्यात्म और शौर्य का विलक्षण समन्वय था। उन्होंने भारत की मृतप्राय जनता को छत्रपति शिवाजी और राणा प्रताप के समान एक जीवन्त आदर्श प्रदान किया। यह कह पाना कठिन है कि यदि गुरु गोविन्दसिंह नहीं होते तो हिन्दू धर्म का स्वरूप कैसा होता।

●

**रोमाँ रोलाँ कृत**

रामकृष्ण परमहंस ११); स्वामी विवेकानन्द ७)५०

सम्पूर्ण रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में उपलब्ध है। पुस्तकें वी पी. द्वारा भी भेजी जाती हैं। वी. पी. खर्च अलग।

पुस्तकों के विस्तृत सूचीपत्र के लिए लिखें—

**व्यवस्थापक**

**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,**
**(प्रकाशन विभाग)**
**रायपुर, म. प्र.**

# मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

## १. पत्थर से शिक्षा

एक बार स्व. लालबहादुर शास्त्री से उनके एक मित्र ने पूछा, "शास्त्रीजी, आप हमेशा प्रशंसा से दूर रहा करते हैं और आदर-सत्कार के कार्यक्रमों को टाला करते हैं। ऐसा क्यों ?"

शास्त्रीजी ने हँसकर जवाब दिया, "इसका यह कारण है मित्र, कि एक बार लालाजी (लाला लाजपतराय) ने मुझसे कहा था, 'लालबहादुर, ताजमहल बनाने में दो प्रकार के पत्थरों का उपयोग हुआ है—एक बहुमूल्य संगमरमर पत्थर, जिसका उपयोग गुम्बज के लिए और यत्र-तत्र किया गया है तथा दूसरा एक साधारण पत्थर, जिसका ताजमहल की नींव में उपयोग किया गया है और जिसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। लालबहादुर, हमें अपने जीवन में इस दूसरे प्रकार के पत्थर का ही अनुकरण करना चाहिए। अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा और आदर-सत्कार से हमेशा दूर रहकर सत्कर्म करते रहना चाहिए।' बस उनकी यह सीख मेरे मन में पैठ गयी है और मैं उस नींव के पत्थर का अनुकरण करता रहता हूँ।"

## २. खुशामद से आमद नहीं

बात सन् १९३८ के आसपास की है। उस समय डा. सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल के

एक सदस्य थे। एक पंडितजी अपने स्वार्थवश उनसे मिलने आये। वे किसी स्कूल के हेडमास्टर या कालिज के प्रिंसिपाल थे! उन्होंने आते ही 'हुजूर', 'सरकार' की झड़ी लगा दी। सम्पूर्णानन्दजी थोड़ी देर तक तो चुपचाप सुनते रहे, फिर एकदम उन पर उबल पड़े, "आप ब्राह्मण हैं न! फिर आप एक शिक्षण-संस्था के प्रधान हैं—विद्वान् हैं। हजारों विद्यार्थियों के चरित्र को बनाने-बिगाड़ने के आप उत्तरदायी हैं। मैं आपसे उम्र में छोटा हूँ, विद्वत्ता में छोटा हूँ। केवल इस कुर्सी पर बैठ जाने से ही आप मुझे 'हुजूर', 'सरकार' कहने लगे? इस कुर्सी पर न जाने कितने बैठ चुके और कितने बैठेंगे। आप काम पड़ने पर सभी से ऐसी बातें करते होंगे, क्योंकि गुलामी आपकी नस-नस में भरी हुई है। जब आपका चरित्र ऐसा है, तो फिर विद्यार्थियों का चरित्र कैसे ऊँचा उठायेंगे? वास्तव में आप अपने पद के अयोग्य हैं। आपके प्रति मेरी कोई सहानुभूति नहीं।"

### ३. उत्तरदायित्व का ख्याल

बात उन दिनों की है, जब विदर्भ, महाकोशल और छत्तीसगढ़ 'सी. पी.' कहलाता था तथा डा. खरे उसके मुख्य मंत्री थे। पं. रविशंकर शुक्ल एवं उनके साथियों से जब डा. खरे का मतभेद हुआ, तो वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की एक जरूरी बैठक बुलायी गयी। उस समय यह समस्या उपस्थित हुई कि ऐसा व्यक्ति कौन है, जो मुख्य मंत्री के रूप में दोनों पक्षों को मान्य हो और

जिस पर कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं का भी पूरा विश्वास हो। तब श्री कृष्णदास जाजू का नाम सामने आया। उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए गाँधीजी को भेजा गया। गाँधीजी ने जाजूजी के पास प्रस्ताव रखा, तो उन्होंने विचार करने के लिए समय माँगा। रात भर सोचने के बाद दूसरे दिन जाजूजी ने स्पष्ट रूप से गाँधीजी से कह दिया, "यह पद मेरे लिए अयोग्य है, मैं मुख्य मंत्री नहीं बन सकता।"

बाद में श्री रिषभदास राँका ने जाजूजी से पूछा, "जब स्वयं गाँधीजी प्रस्ताव लेकर आये थे और आपके द्वारा पद-ग्रहण करने से प्रान्त का हित होने वाला था, तो आपने अस्वीकृति क्यों दी?" जाजूजी बोले, "बात यह है कि मुख्य मंत्री बनने पर मंत्रिमंडल के साथियों तथा विधायकों को राजी रखे बिना राज्य-व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती और सबको राजी रखने में अपने सिद्धान्तों को ताक में रखना पड़ता है, जो मुझसे हो नहीं सकता और इसीलिए मैंने अस्वीकृति दे दी।"

**४. दानवीरता**

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन राज्यसभा के सदस्य थे, तब की बात है। एक बार अपने भत्ते का चेक लेने के बाद वे राज्यसभा के कार्यालय में गये। समीप खड़े एक सज्जन से उन्होंने फाउंटनपेन लेकर वह चेक 'लोकसेवा मंडल' के नाम लिख दिया। इन महोदय ने जो देखा, तो न रहा गया; बोले, "टंडनजी, आपको भत्ते के मुश्किल

से चार सौ रुपये मिले हैं, उन्हें भी आपने 'लोकसेवा मंडल' को दे डाला ?"

पेन वापस करते हुए टंडनजी कहने लगे, "देखो भाई, मेरे हैं सात लड़के और सातों अच्छी तरह कमाते हैं। मैंने प्रत्येक पुत्र पर सौ रुपये का 'कर' लगा रखा है। इस प्रकार प्रतिमास मुझे सात सौ रुपये मिल जाते हैं। इनमें से मुश्किल से तीन-चार सौ रुपये व्यय होते हैं। शेष रकम भी मैं 'लोकसेवा मंडल' को भेज देता हूँ। इन पैसों का मैं करूँ भी क्या ?"

**५. मातृभाषा के प्रति प्रेम**

घटना उस वक्त की है, जब भारत परतंत्र था तथा उस पर अंग्रेजों का शासन था। लन्दन के एक छात्रावास में एक भारतीय विद्यार्थी को दिनदर्शिका में कुछ लिखतेदेख उसके एक आंग्ल सहपाठी ने पूछा, "यह क्या लिख रहे हो ?"

"दिनदर्शिका", उस विद्यार्थी ने उत्तर दिया।

"दिनदर्शिका ? और वह भी अंग्रेजी भाषा में ?"

"इसमें कौनसी ताज्जुब की बात हुई ? अंग्रेजी जो पढ़ रहा हूँ।"

"मेरे मित्र, दिनदर्शिका में हम अपना हृदय उँड़ेल देते हैं। हमारा दिल खोलने के लिए दिनदर्शिका के अलावा अन्य कोई साधन नहीं और हम अपना दिल अपनी मातृभाषा में ही खोल सकते हैं, न कि किसी विदेशी भाषा में। और फिर हिन्दी तो आपकी राष्ट्रभाषा है ! हम तुम पर राज कर रहे हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपनी भाषा

छोड़कर हर चीज हमारी भाषा में ही लिखा करो।"

बात उस विद्यार्थी को जँच गयी और उसने निश्चय किया कि अब वह न केवल दिनदर्शिका ही हिन्दी में लिखा करेगा, वरन् सम्भवतया हिन्दी का ही प्रयोग करता रहेगा। यह विद्यार्थी थे महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल स्व. श्रीप्रकाश।

**६. सच्चा नेतृत्व**

एक बार पुलिस ने पूर्वी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों को हटाने के लिए उनके झोपड़ों में आग लगा दी और उन पर लाठीचार्ज भी किया। बात डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को पता चली, तो वे तुरन्त वहाँ पहुँचे और उन्होंने सर्वप्रथम तो जहाँ-तहाँ आग सुलग रही थी, उसे बुझवाने का काम किया, फिर लोगों से सारा हाल मालूम किया। कोई पुलिस अधिकारी वहाँ मौजूद न था यह देखकर समीप के थाने से पुलिस अधिकारी को बुलाकर उसकी खूब खबर ली। पश्चात् घर लौटकर पुलिस कमिश्नर को फोन कर उसे तत्काल हाजिर होने को कहा। थोड़ी देर बाद उसके आने पर उसे भी उन्होंने बुरी तरह आड़े-हाथों लिया और उससे बोले, "ये बेचारे घर-बार खोकर गली-रास्तों पर पड़े हैं। तुम्हें शर्म नहीं आयी इनके झोपड़े जलाते और इन पर लाठियाँ चलाते? क्या तुम्हारे कोई भाई-बहन नहीं हैं?" पुलिस कमिश्नर ने क्षमा माँगते हुए उचित जाँच कर दोषी पुलिस-कर्मचारियों को दंड देने का आश्वासन दिया। फिर डा. मुखर्जी

ने बेघरबार शरणार्थियों के आवास की ओर ध्यान दिया।

**७. अधिकार और कर्तव्य**

एक बार स्व. जाकिर हुसैन के पास उनके एक परिचित सज्जन एक ऐसे छात्र को लेकर आये, जो नवीं कक्षा में लगातार दो वर्षों से अनुत्तीर्ण होता आ रहा था। वे सज्जन यह चाहते थे कि जाकिर साहब अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग कर उस छात्र को परीक्षा में उत्तीर्ण कर उसे दसवीं कक्षा में दाखिल करायें। उस समय जाकिर हुसैन जामिया मिलिया में उपकुलपति थे।

जब उन सज्जन ने जाकिर साहब से इस सम्बन्ध में प्रार्थना की, तो वे उनकी ओर प्रथम तो देखते रहे। फिर बोले, "अच्छा तो आप चाहते हैं कि मैं अपने खसूसी आख्त्यारात का गलत इस्तैमाल करूँ? कोई बात नहीं। आप दफ्तर से बी. ए. का एक फार्म ले आइए, मैं इन्हें बी. ए. में दाखिला किये देता हूँ, क्योंकि मेरे आख्त्यारात में यह भी है। जब गलत काम कराने आये हैं, तो बड़ा गलत काम ही क्यों नहीं कराते?" यह सुन वे महोदय झेंप गये। तब जाकिर साहब पुनः बोले, "मुझे आपसे ऐसी उम्मीद न थी। मेरी आपके प्रति जो भावना थी, उस पर आपने पानी फेर दिया।" अब वे सज्जन और छात्र दोनों बड़े लज्जित हुए और क्षमा माँगकर उन्होंने फौरन राह ली।

●

# योग की वैज्ञानिकता-३

## डा. अशोक कुमार बोरदिया

८

पिछले दो लेखों में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि योग ही अखण्ड सुख-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। साथ ही चित्त-वृत्ति-निरोध के स्नायविक (neurological) आधार को जानने का भी प्रयास किया गया था। सुख-प्राप्ति के साथ साथ मानव-जीवन का एक और प्रयोजन है। वह है ज्ञान-प्राप्ति अथवा सत्य की खोज। भारत का प्राचीन अध्यात्म-वाद और योगशास्त्र तथा आधुनिक विज्ञान दोनों ही जीवन के चरम सत्यों की खोज में लगे हुए हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये भी चित्तवृत्तियों के निरोध की आवश्यकता है। यह बात पतंजलि ने अपने योगसूत्रों में स्पष्ट रूप से कही है :—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
वृत्तिसारूप्यम् इतरत्र। १।३-४

'तब द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है। अन्य समय वह वृत्तियों से एकरूप होकर रहता है।'

पातंजल-योगशास्त्र सांख्य दर्शन पर आधारित है। सांख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति दो अनादि तत्त्व हैं। पुरुष चैतन्य, कूटस्थ, अपरिवर्तनशील और निष्क्रिय है तथा प्रकृति क्रियाशील और निरन्तर परिवर्तनशील जड़तत्त्व है। प्रत्येक

जीव में एक चैतन्य, पुरुष-तत्त्व है और वही उसका वास्तविक स्वरूप है जिसे पूर्वोक्त सूत्र में 'द्रष्टा' शब्द से सम्बोधित किया गया है। प्राणियों के शरीर और मन प्रकृति के परिणाम हैं। चित्तवृत्तियों के निरुद्ध होने पर जीव को यह चरम ज्ञान प्राप्त होता है कि वह शरीर नहीं है, न ही वह मन है, और न इन दोनों का समूह ही। वह तो निश्चल, अपरिवर्तनशील, सदा साक्षी, चेतन पुरुष है। जब तक यह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक जीव 'मैं शरीर हूँ', 'मैं मन हूँ', 'बुद्धि हूँ' इत्यादि अज्ञान में डूबा रहता है। यही संक्षेप में उपर्युक्त दोनों सूत्रों का अर्थ है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

कल्पना कीजिये कि स्वच्छ जल के एक सरोवर के मध्य में बिजली का एक गोला लटक रहा है और सरोवर के जल को तीव्र गति से मथा जा रहा है, जिसके फलस्वरूप जलराशि विभिन्न आकार धारण कर रही है। ये आकार प्रतिक्षण बदल रहे हैं और बिजली के गोले से निकलने वाले प्रकाश को स्वयं में आत्मसात् कर उसके साथ एकरूप हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पानी की लहरें अपने आप ही प्रकाशित हैं; ज्योति का वह स्रोत दृष्टि से ओझल हो जाता है। अब कल्पना कीजिये कि धीरे धीरे पानी की हलचल कम हो रही है। जैसे जैसे जल शान्त होता है, बिजली का गोला वैसे वैसे दृष्टिगोचर होने लगता है। जल के पूरी तरह शान्त हो जाने पर मालूम होता है कि प्रकाश का वास्तविक स्रोत वह गोला

था, जल नहीं । ठीक इसी प्रकार चित्त में निरन्तर होने-वाली चंचलता के फलस्वरूप हमें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । वृत्तियों के शान्त होने पर ही हम समझ पाते हैं कि शरीर, मन आदि चैतन्य प्रतीत मात्र होते हैं किन्तु वस्तुतः एकमात्र आत्मा ही सत्य, शाश्वत एवं चिन्मय है ।

उदाहरणार्थ, जब कोई हमारी निन्दा करता है तब हमारे मन में क्रोधरूपी वृत्ति का जन्म होता है । क्रोध की वृद्धि के साथ साथ हम अपने आप को भूलते जाते हैं । हम भूल जाते हैं कि हम समाज के सम्माननीय नागरिक हैं; कुल-मर्यादा भी विस्मृत हो जाती है । क्रोध के अधिक बढ़ने पर स्थान एवं परिस्थिति का ध्यान नहीं रहता । अन्त में हमें यह भी भान नहीं रहता कि हम एक मानव हैं । पशुतुल्य हो, आवेशवश हम ऐसा कार्य कर बैठते हैं जो हमारे और दूसरों के लिये कष्टप्रद होता है । इसी को 'वृत्तिसारूप्यम्' अथवा वृत्तियों के साथ एकरूपता कहते हैं ।

९

पातंजल-योगसूत्र के प्रथम अध्याय--समाधिपाद--में पाँचवें से ग्यारहवें सूत्र तक चित्तवृत्तियों का वर्णन है । पाँचवें और छठे सूत्रों में वृत्तियों का वर्गीकरण किया गया है:--

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मतयः ।

—अर्थात्, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। ये वृत्तियाँ पुनः क्लिष्ट और अक्लिष्ट ये दो प्रकारों की होती हैं। यहाँ बहुतसी बातें समझने की आवश्यकता है। पहले तो हमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया को समझ लेना होगा। हम आँखों के द्वारा देखते हैं किन्तु "आँखें वास्तव में नहीं देखतीं। यदि मस्तिष्क में स्थित दर्शनेन्द्रिय या दर्शन-शक्ति को नष्ट कर दो तो भले ही तुम्हारी आँखें रहें, आँखों की पुतलियाँ भी साबूत रहें और आँख के ऊपर जिस छबि के पड़ने से दर्शन होता है वह भी रहे, पर फिर भी आँखें देख न सकेंगी। अतः आँख दर्शन का गौण यन्त्र मात्र हुई। वह वास्तव में दर्शनेन्द्रिय नहीं है। दर्शनेन्द्रिय तो मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-केन्द्र में अवस्थित है।... कभी कभी मनुष्य आँखें खुली रखकर सो जाता है। वस्तु का चित्र आँखों पर बना हुआ है, दर्शनेन्द्रिय भी है, पर और एक तीसरी वस्तु की आवश्यकता है, और वह है मन। मन को इन्द्रिय के साथ संयुक्त रहना चाहिये। अतः दर्शन-क्रिया के लिये चक्षुरूप बहिर्यन्त्र, मस्तिष्क में स्थित स्नायु-केन्द्र और मन—ये तीन चीजें चाहिये।... मन विषय के अभिघात से उत्पन्न हुई संवेदना को और भी अन्दर ले जाकर निश्चयात्मिका बुद्धि के सामने पेश करता है। तब बुद्धि से प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के साथ अहंभाव जाग उठता है। फिर क्रिया और प्रतिक्रिया का यह मिश्रण पुरुष अर्थात्

प्रकृत आत्मा के सामने लाया जाता है। तब वे पुरुष इस मिश्रण को एक (ससीम) वस्तु के रूप में अनुभव करते हैं। पाँचों इन्द्रिय, मन, निश्चयात्मिका बुद्धि और अहंकार को मिलाकर अन्त:करण कहते हैं। ये सब मन के उपादानस्वरूप चित्त के भीतर होने वाली भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। चित्त में उठने वाली विचार-तरंगों को वृत्ति कहते हैं।"‡

मन सम्बन्धी आधुनिक शरीर-विज्ञान के निष्कर्ष में और योगशास्त्र के इस सिद्धान्त में काफी समानता है। आधुनिक शरीर-विज्ञान के अनुसार, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से अन्तर्गामी स्नायुओ (afferent neurones) के द्वारा संवेदना मस्तिष्क में स्थित केन्द्र तक पहुँचती है। दर्शन, स्पर्शन आदि की क्रिया के लिये मात्र बाह्य इन्द्रिय पर्याप्त नहीं है। उदाहरण के लिये, जब नेत्रों द्वारा किसी वस्तु को देखा जाता है तब उसका चित्र नेत्र के पर्दे (retina) पर बनता है। यह संवेदना जब दर्शन-नाड़ी (optic nerve) के द्वारा मस्तिष्क में स्थित दर्शन-केन्द्र (visual centre) तक ले जायी जाती है तब व्यक्ति उस वस्तु को देखने में समर्थ होता है। किन्तु यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उस दिखायी देनेवाली वस्तु का अर्थ जानने के लिये संवेदना की इस प्रक्रिया को दर्शन-केन्द्र के निकट स्थित सहकारी दर्शन-केन्द्र (visual association area) में जाना होता है। यहाँ पूर्व स्मृतियों

‡ विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खंड, पृष्ठ ११५–११६.

एवं अनुभवों के साथ वर्तमान अनुभव की तुलना करने के बाद यह निश्चय किया जाता है कि देखे जाने वाले पदार्थ का नाम अमुक है, तथा वह अमुक उपयोग में लाया जाता है, इत्यादि। इस निर्णय को, आवश्यकतानुसार, एक मुख्य केन्द्र में भेजा जाता है, जो उसका अन्य इन्द्रियों के केन्द्रों से सम्बन्ध स्थापित करता है। अतः पाश्चात्य शरीर-विज्ञान भी बाह्य इन्द्रिय, केन्द्र तथा अर्थ प्रदान करनेवाले सहकारी केन्द्र, जिसे भारतीय मनोविज्ञान मन कहता है, को स्वीकार करता है। भेद केवल इतना है कि जहाँ भारतीय दर्शन मन, बुद्धि और अहंकार को तीन भिन्न प्रक्रियाएँ मानता है, वहाँ आधुनिक शरीर-विज्ञान इन तीनों को भिन्न नहीं मानता।

अब प्रश्न यह उठता है कि विचार क्या है, तथा बाह्य भौतिक जगत् से प्राप्त शब्द, स्पर्श और दर्शन आदि की स्थूल संवेदनाएँ कैसे सूक्ष्म विचारों को जन्म देती हैं? भारतीय मनोविज्ञान का यह मत है कि "विचार एक शक्ति है। प्रकृति के अनन्त शक्ति-भण्डार से चित्त नामक करण कुछ शक्ति को ग्रहण कर लेता है, अपने में आत्मसात् कर लेता है और उसे विचार के रूप में बाहर भेजता है। यह शक्ति हमें खाद्यान्न के जरिये प्राप्त होती है और इस खाद्यान्न से शरीर गति आदि की शक्ति प्राप्त करता है। दूसरी अर्थात् सूक्ष्मतर शक्तियों को वह विचार के रूप में बाहर भेजता है। अतएव मन चेतन नहीं है; फिर भी वह चेतन सा प्रतीत होता है। क्यों?

इसलिये कि चेतन आत्मा उसके पीछे है।"§

शरीर-रचना एवं व्यवहार-विज्ञान ने अपने अनुसन्धानों के द्वारा यह जाना है कि संवेदना की प्रतिक्रिया के रूप में मस्तिष्क के स्नायुओं (neurones) में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं। पहला रासायनिक (Biochemical) और दूसरा वैद्युतिक (Electrical)। जब दर्शन, श्रवण आदि की संवेदना बाह्य इन्द्रिय से केन्द्र में पहुँचती है, तो वहाँ के स्नायुओं में कतिपय रसायनों की उत्पत्ति होती है, तथा विद्युत् तरंगें पैदा होती हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि ये रासायनिक एवं विद्युत् परिवर्तन सूक्ष्म अभौतिक विचारों को कैसे जन्म देते हैं? इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर आधुनिक विज्ञान के पास नहीं है। उसका मत है कि जिस प्रकार यकृत (Liver) से पित्त (Bile) प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मस्तिष्क के स्नायुओं से विचार उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रमाणों के अभाव में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव विचारों और पदार्थ (thought and matter) के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भारतीय मत ही अधिक तर्क-युक्त है। वह कहता है कि शरीर के ही समान मन भी जड़ और अचेतन है, किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा को अपने में प्रतिफलित करने के कारण वह चेतन-सा प्रतीत होता है।

१०

चित्त के स्वरूप के बारे में विचार करने के बाद

---

§ विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खंड, पृष्ठ ११६.

अब पतंजलि के वृत्तियों के वर्गीकरण की वैज्ञानिकता पर विचार करें। वृत्तियों का यथार्थ ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, कल्पना, निद्रा और स्मृति---इन पाँच रूपों में विभाजन ऊपरी दृष्टि से तो कुछ अटपटा सा प्रतीत होता है परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इसकी विशेषता स्पष्ट हो जायेगी।

जिस प्रकार एक सरोवर की सतह पर तरंगें बाहर के आघातों से पैदा हो सकती हैं, उसी प्रकार चित्त में कुछ वृत्तियाँ इन्द्रियों से प्राप्त संवेदनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। इन्हें हम वैषयिक (Objective) कह सकते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रियों के विषयों के सम्पर्क में आने पर निर्भर है। प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान और विपर्यय यानी मिथ्या ज्ञान के अन्तर्गत ऐसी सभी वैषयिक वृत्तियों का समावेश हो जाता है। जब हम इन्द्रियों द्वारा भीतर जा रही संवेदनाओं का मार्ग बन्द कर देते हैं, तब भी कल्पना और स्मृति रूपी वृत्तियाँ चित्त में उठती रहती हैं। इन्हें वैयक्तिक अथवा (Subjective) कह सकते हैं। स्वप्नरहित निद्रावस्था में उपर्युक्त दोनों प्रकार की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। जो वृत्ति रहती है, उसे पतंजलि ने 'निद्रा' कहा है। तात्पर्य यह कि पतंजलि द्वारा बतलायी गयी पाँच प्रकार की वृत्तियों में वैषयिक, वैयक्तिक एवं उन दोनों के अभाव में होनेवाली सभी वृत्तियों का समावेश हो जाता है। गम्भीरता से विचार करने पर हम पायेंगे कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होनेवाले किसी भी मनोव्यापार का वर्गीकरण

उपर्युक्त पाँच वृत्तियों में से किसी एक में किया जा सकता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान का चित्तवृत्तियों का विभाजन योग के विभाजन से भिन्न है। उसमें जाग्रत् अवस्था में उठनेवाले समस्त विचारों को ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। इन्द्रियों के माध्यम से जब विषय की संवेदना मस्तिष्क में पहुँचती है तब उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उस विषय का ज्ञान सर्वप्रथम होता है। यह ज्ञानात्मक वृत्ति है। ज्ञात विषय का व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है, वह सुखदायक है या दुःखदायक, इस सब प्रतिक्रिया को भावनात्मक कहा गया है। अन्त में ज्ञान प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के मन में कुछ कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है जिसे क्रियात्मक प्रतिक्रिया कहते हैं। विषयान्तर से यहाँ यह उल्लेख कर दें कि भारतीय मनोविज्ञान मानव-मन के इन तीनों पहलुओं से भलीभाँति परिचित है। इन्हीं के आधार पर साधना के पथ क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के नाम से निर्धारित किये गये हैं।

जहाँ तक चित्तवृत्तियों का प्रश्न है, पाश्चात्य मनोविज्ञान और योग-मनोविज्ञान के बीच एक और अन्तर है। वह यह कि योग-मनोविज्ञान के अनुसार वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट, ये दो प्रकार की हो सकती हैं, जबकि पाश्चात्य-मनोविज्ञान में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं है। अगले लेख में इस प्रश्न पर अधिक विस्तार से विचार किया जायेगा।

# अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

## प्रा. देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

धर्म-महासभा के बाद स्वामीजी करीब दो माह तक शिकागो में रहे तथा वक्तृता के लिए आसपास आते जाते रहे। इस बीच उन्हें अमरीकी समाज को नजदीक से देखने का मौका लगा और वे बड़ी बारीकी से उसके आर्थिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय पहलू का अध्ययन करते रहे। यह अध्ययन मात्र जानकारी के लिए न था, किन्तु उसका प्रयोजन था कि वह किस तरह उनके देश के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है। उस समय शिकागो साहित्य, कला, वाणिज्य, विज्ञान, प्रायः सभी क्षेत्रों में अमेरिका का केन्द्र बना हुआ था, अतः स्वामीजी को अमरीकी जातीय जीवन की सुस्पष्ट तसवीर शिकागो में दृष्टिगत हुई। १० अक्तूबर १८९३ को उन्होंने श्रीमती टेनाट उड्स को लिखा था—"...अभी मैं शिकागो में भाषण दे रहा हूँ और मैं सोचता हूँ कि भाषण अच्छे ही चल रहे हैं। मुझे एक भाषण के तीस से अस्सी डालर तक मिल जाते हैं और यहाँ की धर्म-महासभा ने मुफ्त में ही मेरा इतना अधिक विज्ञापन कर दिया है कि तत्काल इस क्षेत्र को छोड़ देना ठीक नहीं होगा।...कल मैं स्ट्रियेटर से लौट आया, वहाँ मुझे एक व्याख्यान के ८७ डालर प्राप्त हुए। इस सप्ताह में तो मैं बिलकुल व्यस्त हूँ।

शायद सप्ताह के अन्त तक और कार्य मिल जाय।..."

उस व्यस्त सप्ताह में इवैन्स्टन नामक स्थान में स्वामीजी ने तीन वक्तृताएँ दी थीं जिनके विषय थे-- हिन्दुओं का परमार्थवाद, अद्वैतवाद तथा पुनर्जन्म। इन व्याख्यानों की चर्चा करते हुए 'इवैन्स्टन इन्डेक्स' ने ७ अक्तूबर के अंक में लिखा--

"पिछले सप्ताह 'काँग्रेगेशनल चर्च' में भाषणों का कुछ ऐसा क्रम रहा है, जो अभी अभी समाप्त हुई धर्म-महासभा से बहुत कुछ मिलता जुलता है। स्वीडन के डा. कार्ल वॉन बरगेन तथा हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द वक्ता थे।...स्वामी विवेकानन्द धर्म-महासभा में आये हुए भारतीय प्रतिनिधि हैं। अपनी नारंगी रंग की विशिष्ट पोशाक, चुम्बकीय व्यक्तित्व, कुशल वक्तृता और हिन्दू दर्शन की विस्मयकारक व्याख्या के कारण उन्होंने बहुत अधिक लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। जब से वे शिकागो में हैं उनका उल्लासपूर्ण स्वागत हो रहा है। यहाँ यह भाषणमाला तीन दिनों से चल रही थी।...

"गुरुवार, ५ अक्तूबर की शाम को डा. वॉन बरगेन 'स्वीडन की राजपुत्रियों के स्थापनकर्ता हल्डाइन बीमिश' के ऊपर बोले तथा हिन्दू संन्यासी ने 'पुनर्जन्म' विषय पर चर्चा की। ये दूसरे वक्ता बड़े रोचक थे, क्योंकि उनके जैसे विचार पृथ्वी के इस भाग में बहुधा सुनने में नहीं आते। पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि इस देश के लिए

नया और न समझ में आनेवाला सा है, तथापि प्रायः सभी धर्मों का आधार होने के कारण वह पूर्व में सुविख्यात है। जो इसे धर्म-सिद्धान्त के रूप में नहीं मानते वे भी इसके विरोध में कुछ नहीं कहते। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे मुख्य बात इस बात का निर्णय करने में है कि हमारा कोई अतीत भी है। हमें विदित है कि हमारा वर्तमान है और भविष्य के होने के सम्बन्ध में हमें विश्वास है। किन्तु बिना अतीत के वर्तमान कैसे सम्भव है? आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जड़ का अस्तित्व है और सतत रहता है। सृष्टि केवल उसका रूपान्तर है। हमारा उद्भव शून्य से नहीं हुआ। कुछ लोग ईश्वर को प्रत्येक वस्तु का सर्वनिष्ठ कारण मानते हैं और इसे अस्तित्व का पर्याप्त हेतु समझते हैं। परन्तु प्रत्येक वस्तु में हमें दृश्य-रूप का विचार करना चाहिए कि कहाँ से और किससे जड़पदार्थ उद्भूत होता है। जो तर्क इस बात को सिद्ध करता है कि भविष्य है, वही इस बात को भी सिद्ध करता है कि अतीत है। यह आवश्यक है कि ईश्वर की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कारण हों। आनुवंशिकता पर्याप्त कारण प्रदान करने में असमर्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि हमें पिछले अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। बहुत से ऐसे उदाहरण मिले हैं, जिनमें अतीत की स्पष्ट स्मृति मिलती है। यहीं इस सिद्धान्त के बीजाणु विद्यमान हैं। हिन्दू मूक पशुओं के प्रति दयालु हैं, इस कारण बहुत से लोग सोचते हैं कि हम लोग निम्नतर योनियों में आत्मा

के पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं । वे मूक पशुओं के प्रति इस दया को अन्धविश्वास के परिणाम के सिवाय अन्य किसी कारण से उद्भूत मानने में असमर्थ हैं । एक प्राचीन हिन्दू पंडित के मतानुसार जो कुछ हमें ऊपर उठाता है, वह धर्म है । पशुता बहिष्कृत हो जाती है और मानवता दिव्यता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्य को इस छोटी सी पृथ्वी तक ही सीमित नहीं कर देता । उसकी आत्मा दूसरी उच्चतर पृथ्वियों में जा सकती है, जहाँ उसका उच्चतर अस्तित्व होगा, जहाँ पाँच इन्द्रियों की बजाय वह आठ इन्द्रियों वाला होगा और इस तरह होता होता वह अन्त में पूर्णता और दिव्यता की पराकाष्ठा तक पहुँचेगा तथा 'परमानन्द के द्वीप' में विस्मरण को छककर पी ले सकेगा ।"

९ अक्तूबर को स्ट्रियेटर में उन्होंने 'हिन्दू सभ्यता' विषय पर व्याख्यान दिया जिसका उल्लेख उन्होंने श्रीमती वुडस के पत्र में किया था ।

धर्म-महासभा के पश्चात् स्वामीजी की विचारधारा में अब किंचित् परिवर्तन परिलक्षित होता है । पहले उनका उद्देश्य था भारत के प्रति अमेरिका में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं को दूर कर भारतीय विचारधारा का प्रचार करना तथा इसके बदले में भारत में औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना के लिए धन एकत्रित करना । पर अब वे धन-संचय के इरादे को त्याग देते हैं । इसका कारण उनके ही द्वारा २६ अक्तूबर को प्राध्यापक राइट को

लिखे पत्र में मिलता है । वे लिखते हैं--

"...दूरस्थ देशों से लोग यहाँ अपनी योजनाएँ, विचार और उद्देश्य लेकर आते हैं तथा उन्हें पूरा करना चाहते हैं और अमेरिका ही एक ऐसी जगह है जहाँ हर चीज की सफलता की सम्भावना है । किन्तु मेरी समझ में एक अच्छा विचार आया और मैंने अपनी योजना पर भाषण देना एकदम बन्द कर दिया है, क्योंकि मुझे विश्वास हो गया है कि यह विधर्मी अपनी योजना की अपेक्षा अधिक पा रहा है । मैं अपनी योजना के निमित्त अध्यवसाय पूर्वक काम तो करना चाहता हूँ, पर उस योजना को पृष्ठभूमि में रखकर दूसरे वक्ताओं के ही समान कार्य करना पसन्द करूँगा ।

"जो मुझे यहाँ लाया है और जिसने अब तक मेरा साथ नहीं छोड़ा है, जब तक मैं यहाँ रहूँगा तब तक वह मेरा साथ नहीं छोड़ेगा । आप यह जानकर खुश होंगे कि मैं अपने कार्य में बहुत सफलता प्राप्त कर रहा हूँ और जहाँ तक धन की बात है, उसमें और भी अधिक सफल होने की आशा है । यद्यपि इस ढंग के व्यवसाय में मैं एकदम अनुभवहीन हूँ, फिर भी शीघ्र ही सीख जाऊँगा। शिकागो में मैं बहुत लोकप्रिय हूँ इसलिए कुछ अधिक दिन ठहरना चाहता हूँ । फिर कुछ रुपये भी इकट्ठे हो जायेंगे ।..."

स्वामीजी के शिकागो-प्रवास तथा उनकी लोकप्रियता के बारे में 'क्रिटिक' की संवाददाता लूसी मनरो ने विस्तार पूर्वक ७ अक्तूबर के अंक में लिखा था--

"... धर्म-महासभा के आविर्भाव ने इस तथ्य के प्रति हमारी आँखें खोल दीं कि प्राचीन धर्मों के तत्त्वदर्शन में आधुनिकों के लिए पर्याप्त सौन्दर्य भरा है। जब हमने स्पष्ट रूप से यह देख लिया, तब शीघ्र ही उनके व्याख्याताओं में हमारी रुचि उत्पन्न हुई और एक विशेष उत्सुकता के साथ हम ज्ञान की खोज के लिए अग्रसर हुए। महासम्मेलन की समाप्ति पर इस ज्ञान को प्राप्त करने का सबसे सुलभ साधन स्वामी विवेकानन्द के भाषण और प्रवचन थे। स्वामीजी अभी भी इस शहर (शिकागो) में विराजे हुए हैं। उनका इस देश में आने का मूल उद्देश्य यह था कि वे अमेरिकावासियों को हिन्दुओं के लिए नये उद्योगों की स्थापना हेतु प्रेरित करना चाहते थे, किन्तु फिलहाल उन्होंने इसे स्थगित कर दिया है क्योंकि उनका अनुभव है कि 'अमेरिकन लोग दुनिया में सबसे अधिक दानशील हैं' इसलिए हर ऐसा व्यक्ति जिसकी कोई योजना है, अपनी योजना की पूर्ति में सहायता प्राप्त करने यहाँ चला आता है।...

"ब्राह्मणों के भी ब्राह्मण विवेकानन्द ने संन्यासियों के भ्रातृसंघ में प्रवेश करने के लिए अपने वर्ग का परित्याग कर दिया। वहाँ समस्त जात्यभिमान स्वेच्छा से त्याग दिया जाता है। तो भी उनके व्यक्तित्व पर उनकी जाति के चिह्न विद्यमान हैं। उनकी संस्कृति, उनकी वाग्मिता और उनके मोहक व्यक्तित्व ने हमें हिन्दू सभ्यता का एक नया भाव प्रदान किया है। वे एक रोचक व्यक्ति

हैं और पीले वस्त्रों की भूमिका में उनका सुन्दर बुद्धिमत्ता-पूर्ण, संवेदनशील मुखड़ा तथा गम्भीर संगीतमय स्वर किसी को भी तुरन्त अपने पक्ष में आकृष्ट कर लेता है। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उन्हें साहित्यिक गोष्ठियों द्वारा अपनाया गया है तथा वे गिरजाघरों में यहाँ तक उपदेश और भाषण देते रहे हैं कि हम बुद्ध के जीवन और उनके मत सिद्धान्तों से पर्याप्त परिचित हो चुके हैं। वे बिना किसी नोट्स के भाषण देते हैं तथा अपने तथ्यों और निष्कर्षों को अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनके शब्दों की सचाई अति प्रभावी होती है और कभी कभी तो वे अत्यन्त ओजस्वी वाग्मिता के स्तर पर पहुँच जाते हैं। देखने में वे एक अति निष्णात जेसुइट की भाँति विद्वान् और सुसंस्कृत दिखते ही हैं, साथ ही उनके मानस में भी कुछ जेसुइटी विशेषता है। किन्तु यद्यपि उनके द्वारा अपने भाषणों में छोड़े जानेवाले छोटे छोटे व्यंग तलवार से भी अधिक तेज होते हैं, पर वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनके बहुत से श्रोता उन्हें समझ नहीं पाते। यह सब होते हुए भी वे शिष्टाचार में कभी नहीं चूकते, क्योंकि उनके प्रहार कभी भी हमारी प्रथाओं पर इतने सीधे नहीं पड़ते कि वे कठोर प्रतीत हों। सम्प्रति वे हमें अपने धर्म एवं उसके दार्शनिकों के विचार से अवगत कराने के कार्य से ही सन्तुष्ट हैं। वे उस समय की प्रतीक्षा में हैं, जब हम मूर्तिपूजा के स्तर से आगे बढ़ जायेंगे। अभी तो, उनके मत से,

यह मूर्तिपूजा अज्ञानी वर्ग के लिए आवश्यक है। पर धीरे धीरे हम पूजा से भी परे चले जायेंगे और प्रकृति में ईश्वर की विद्यमानता का बोध करने लगेंगे तथा मानव के दायित्व और उसकी दिव्यता को पहचान लेंगे। 'अपना मोक्ष अपने आप उपलब्ध करो', वे बुद्ध की मृत्यु के समय के इन वचनों के साथ कहते हैं, 'मैं तुम्हें सहायता नहीं दे सकता। कोई भी मनुष्य तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। अपनी सहायता स्वयं करो।"

"स्वामीजी के शिकागो-प्रवास का एक निश्चित चित्र अब उभरने लगा था," श्रीमती बर्क अपनी 'न्यू डिस्कवरी' में लिखती हैं, "हम उन्हें अपनी पूर्ण युवावस्था में पाते हैं। उनका मुखमंडल एक स्वर्गीय आभा से चमकता था। अपने वचनबद्ध व्याख्यानों तथा सामाजिक कार्य-क्रमों को पूर्ण करते हुए, पाश्चात्य जीवन तथा संस्थाओं के बारे में तीव्र रुचि रखते हुए, वे भारतीय जीवन और संस्कृति का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते रहे। उनके मन का वह अंश जिसके द्वारा वे संसार में काम करते थे, अत्यन्त सजग था और अन्य किसी भी कुशाग्र बुद्धि की अपेक्षा तीक्ष्ण था। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि उनके मन का यह छोटासा अंश उस बृहत् अंश द्वारा अवबोधित और प्रकाशित था, जो सतह के नीचे ईश्वर में निरन्तर निमज्जित हो, शान्त और अस्पर्शित पड़ा था तथा सहायता हेतु आये लोगों पर आशीर्वाद की वर्षा करने और उनके जीवन को बदल देने के लिए प्रस्तुत

था। हम यह नहीं जानते कि स्वामीजी कितनी बार निर्विकल्प समाधि के कगार पर जाकर खड़े हो जाते। ऐसी अवस्था में कौन जाने कि श्रीरामकृष्ण ही उन्हें खींच लाते, अथवा मानवजाति के प्रति प्रेम और करुणा से प्रेरित हो, इस देश में अपने कार्य को पूर्ण करने के लिए वे स्वयं ही अपने मन को उतार लाते। पर इतना तो अन्दाज लगाया जा सकता है कि वे अपने ही समान पहुँचे हुए महापुरुषों की भाँति सापेक्ष और निरपेक्ष की सीमारेखा पर हमेशा अवस्थित रहते थे।"

(क्रमशः)

•

**अवश्य पढ़िये—**

**स्वामी अपूर्वानन्द कृत**

**१) कैलास और मानस तीर्थ**

रोमांचक यात्रा-वर्णन, मू. ३)

**२) युग-प्रवर्तक विवेकानन्द**

स्वामी विवेकानन्द की रोचक जीवनी, मू. २॥)

# सेवा

**घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'**

धर्म के क्षेत्र में सेवा का एक विशिष्ट स्थान है। यह सर्वोत्कृष्ट मानवीय कृति है। परिपक्व अन्तःकरण में इसका भाव उदित होता है। सेवा के दो रूप हैं---एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग से श्रीभगवान् की सेवा और बहिरंग से जीव मात्र की सेवा अभिप्रेत है।अन्तरंग सेवा से आत्मा का कल्याण और बहिरंग से विश्व का कल्याण होता है। अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता छोड़कर मन, वाणी और कर्म से अन्य प्राणी की आत्मा को सुख पहुँचाना सेवा की भावात्मक परिभाषा है। वस्तुतः यह सेवा ही भक्ति है। शिव-ज्ञान से प्राणि-मात्र की सेवा ईश्वर-भक्ति की अत्युत्तम विधि है।

विश्व-कल्याण करने की क्षमता आत्म-कल्याण अर्थात् ईश्वर-लाभ कर लेने पर स्वतः प्राप्त हो जाती है। ईश्वर-लाभ मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। ईश्वर-लाभ के पश्चात् वह महात्मा अपना शेष जीवन बहुजनहिताय अर्पित कर देता है। उसके लिए प्राणि-सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं रह जाता, क्योंकि वह व्यक्तिगत स्वार्थ की क्षुद्र परिधि से बाहर निकलकर सम्पूर्ण विश्व का हो जाता है और सारा विश्व उसका अपना हो जाता है। इस अवस्था के पूर्व विश्व-कल्याण की भावना मनुष्य की लोक-वासना की तृप्ति का हेतु बनने के अतिरिक्त

और कुछ नहीं है। पर सेवा यदि साधना के रूप में की जाय तो वह कालान्तर में श्रेयस्कर सिद्ध होती है।

अन्तरंग सेवा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न होकर वे करुणामय मनुष्यों पर कृपा करते हैं। उनकी कृपा से निर्मल बुद्धि, सामर्थ्य और शक्ति मिलती है, अभीष्ट मार्ग-दर्शन होता है और आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त होता है। श्री हरि की सेवा द्रव्यमय यज्ञों से नहीं की जाती। उन्हें धन-द्रव्य से नहीं रिझाया जा सकता। उनको रिझाने के लिए बस श्रद्धा और भक्ति के दो पुष्प ही पर्याप्त हैं।

ईश्वर को सर्वोपरि समझते हुए प्रतिक्षण हृदय में उनकी महिमा का अनुभव करना; उन्हें अपना सर्वस्व और परम आत्मीय जानकर मन, वाणी और शरीर से उन्हीं का हो जाना तथा समग्र विश्व में उनकी अनन्त शक्ति और सत्ता का विस्तार देखते हुए उन्हें बारम्बार प्रणाम करना उनके प्रति यथार्थ श्रद्धा-भक्ति का परिचय है। आरती, पूजा, प्रार्थना और निदिध्यासनादि कर्म तो अन्तरंग सेवा के ही बाह्य रूप हैं।

ऐसी निर्मल भक्ति के द्वारा भगवान् की सेवा करने का महाफल त्रिगुणातीत अवस्था (ब्रह्मभाव) की प्राप्ति है, जहाँ जगद्द्वन्द्व का सर्वथा लोप हो जाता है और अन्तर में आनन्दमयी अपार शान्ति प्रकट होती है। श्री भगवान् ने गीता में (१४।२६) स्वयं ही कहा है:—

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥'

यह सच्चा आत्म-कल्याण है; देवदुर्लभ भगवत्-साक्षात्कार है। इसे प्राप्त कर मनुष्य आप्तकाम और समदर्शी बन जाता है।

अब वह बहिरंग सेवा के लिए सक्षम होता है। बहिरंग सेवा ईश्वर के विराट् रूप की उपासना अर्थात् जीव मात्र की सेवा है; प्रभु की सन्तानों की सेवा और उनके प्रति शुद्ध प्रेम का प्रदर्शन है। हम ईश्वर के अधिक समीप तभी जा सकते हैं जब हमारे इर्द-गिर्द के सभी प्राणी सुखी हों। उनके सुख और भले के लिए उद्योग-परिश्रम में अपना रक्त-स्वेद एक कर देना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

किसी ने ठीक ही कहा है—'आप दूसरों को सुख पहुँचाइये, सुख आपके पास स्वयं आ जायगा।'

दूसरों का भला चाहने वाले प्राणी को भगवान प्रसन्न होकर अपना लेते हैं। श्री विष्णु पुराण में (३।८।१७) इस उक्ति का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है:—

यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥

—'मनुष्य अपना तथा अपने पुत्र का जैसा हित-चिन्तक है, वैसा ही हित-चिन्तक यदि सभी प्राणियों का बन जाय तो इस उपाय से वह सहज ही श्रीहरि को प्रसन्न कर लेता है।'

मनुष्य को जब भगवान् का प्यार ही मिल गया तो उसे और क्या चाहिए? जीवन का यथार्थ लाभ यही

है, धन-दौलत नहीं।

हृदय-मन्दिर में ईश्वर का वास है–– यह शास्त्र कहते हैं, पर ऐसे मन्दिर में उस दीपक का जिसमें प्रेम का तेल और सेवा की बत्ती हो, प्रकाश होना अनिवार्य है। तभी तो वहाँ ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन होगा।

प्रत्येक जीव इस जगत् का ऋणी है, क्योंकि यह जगत् उसके जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और सुख-दुख के क्षणों में उसका साथ देता है। अन्य प्राणियों के साथ पूर्व जन्म का ऋण-सम्बन्ध निभाने के लिए भी उसे पुनः जन्म लेकर यहाँ आना पड़ता है। यह ऋण-भार न्यूनाधिक रूप में सभी जीवों पर लदा हुआ है; बिना इसको उतारे कल्याण नहीं–– यह भेद मनुष्य जानता है, दूसरे प्राणी नहीं जानते। धन्य है वह, कि उसे सभी जीवों से अधिक ऋण-भुगतान का अवसर प्राप्त हुआ है। अन्य सब तो भोग-योनि के जन्तु हैं; इस मर्त्य भूमि पर आते हैं और अपने कर्म-फलों का भोग भोगकर काल के मुख में चले जाते हैं।

जिस प्रकार माता, पिता और गुरु की सेवा द्वारा मनुष्य मातृ-ऋण पितृ-ऋण और गुरु-ऋण चुकाकर मुक्त होता है, उसी प्रकार जीवमात्र की सेवा द्वारा जगत्-ऋण चुकाकर वह संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है। इस अनित्य शरीर को दूसरों की सेवा में लगाकर वह कृतार्थ हो जाता है।

मनु महाराज कहते हैं मनुस्मृति २।२३३––

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ।।

--'मातृभक्ति से इहलोक में उत्तम जन्म, पितृभक्ति से स्वर्ग लोक और गुरु-सेवा से ब्रह्म लोक का वास मिलता है ।'

भगवद्गीता में (५।२५) कृष्ण भगवान् ने सर्व भूत-सेवा में रत व्यक्ति के लिए श्रेष्ठतम निर्वाण पद का विधान किया है--

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ।।

--'पापमुक्त, संशयविहीन, यतात्मा और सर्व भूत-हित में तत्पर आत्मदर्शी ऋषि ब्रह्म में निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।'

इस श्लोक में 'ऋषयः' शब्द के विशेषण कितने सुन्दर और व्यावहारिक ढंग से प्रयुक्त किये गये हैं । सर्वप्रथम साधन-भजन एवं तप के द्वारा अनेक जन्मों की संचित पाप-राशि को धोकर अन्तःकरण को निर्मल बना लेना, तत्पश्चात् ज्ञान के द्वारा भ्रान्ति-संशय को नष्ट कर माया-मुक्त हो जाना, तब अपने मन का नियन्त्रण कर आत्मा को वश में कर लेना--यह आत्मदर्शन की क्रमानुगत प्रक्रिया है । इसी से जीवन के मुख्यतम उद्देश्य की पूर्ति होती है । इस प्रयोग से संसिद्ध हुआ आत्मदर्शी पुरुष स्वभावतः अपना शेष जीवन सर्व भूत-सेवा में निरत होकर व्यतीत कर देता है । व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

इसी स्थिति में दृष्टिगोचर होता है।

इस सिद्धान्त का यथासम्भव परिपालन करते हुए मनुष्य यदि तन-मन-धन से एक दूसरे की सेवा में लग जायँ और उनका प्रत्येक कर्म विशुद्ध जन-सेवा की भावना से होने लगे तो यह मृत्युलोक स्वर्ग बन जाय, संसार के सम्पूर्ण क्लेश मिट जायँ और धरती आनन्द-सुधा की वर्षा से तृप्त हो उठे। सेवा का फल है सुख। सेवा के द्वारा आत्म-सुख अर्जन करना तथा दूसरों को सुखी बनाकर संसार को आनन्द-धाम में परिणत कर देना मनुष्य का सबसे महान् पुण्य कार्य है।

स्वार्थपरता और आत्म-संकीर्णता के कारण लोग एक दूसरे को हानि पहुँचाते हैं। वे वैयक्तिक कष्ट तो बढ़ाते ही हैं, साथ ही सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त और मृतप्राय कर देते हैं। यह क्रूर दानवी प्रवृत्ति है जो जनसाधारण का सुख-चैन लूट लेती है। इसी से विपज्जाल की सृष्टि होती है। निःस्वार्थ सेवा ही इस जाल का निवारण कर सकती है, पर इसके लिए महान् त्याग और धैर्य की आवश्यकता है। आतुरता और विवेक-हीनता सेवा-कार्य में प्रबल बाधाएँ हैं। अभिमान की वृद्धि और आर्जव का अभाव सेवा में घोर विघ्न उपस्थित करते हैं।

नम्रता सेवा की जननी है। नम्रता के बिना सेवा या भक्ति नहीं हो सकती। 'मैं श्रेष्ठ हूँ'—यह भाव व्यक्ति को सेवा से दूर हटाता है। मन से जब अहंकार

मिटता है तभी उसमें सेवा-भाव का अंकुर फूटता है। गर्व-अभिमान तो आसुरी सम्पदाएँ हैं ही। भला अभिमानी पुरुष किस प्रकार दूसरे के लिए अपना तन-मन न्यौछावर कर सकता है? वहाँ तो उसका अभिमान बीच में अवरोध बनकर खड़ा हो जायगा। इसके विपरीत, आर्जव दैवी सम्पदा है। आर्जव से सहिष्णुता जागती है; क्रूरता का नाश होता है। सहिष्णु और नम्र व्यक्ति भगवान् का कृपा-पात्र बनता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु का वचन है--

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

--'तृण से भी कोमल, वृक्ष के समान सहिष्णु, अपने मान के अनिच्छुक तथा दूसरे को सम्मान देनेवाले मनुष्य से श्रीहरि सदैव प्रसन्न रहा करते हैं।'

नम्रता से ही आज्ञाकारिता उत्पन्न होती है। आज्ञा-पालन सेवा की प्रारम्भिक अवस्था है। निःस्वार्थ रूप में यह आज्ञाकारिता अत्यन्त कड़ुवी औषधि ग्रहण करने के समान है। स्वामी बनना सभी चाहते हैं, सेवक बनना कोई नहीं चाहता। वह धन्य है जो सेवक बनने की इच्छा रखता है, क्योंकि इसके द्वारा वह अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था--

'प्रभु की सन्तानों की सेवा करो, साक्षात् प्रभु की ही सेवा करो, जब कभी तुम्हें अवसर मिले। यदि प्रभु की

इच्छा से तुम उनकी किसी सन्तान की सेवा कर सको तो सचमुच तुम धन्य हो। अपने आप को बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो कि वह अवसर तुम्हें दिया गया, दूसरों को नहीं। उसे पूजा की ही दृष्टि से देखो। गरीब और दुखी लोग तो हमारी ही मुक्ति के लिए हैं, ताकि रोगी, पागल, कोढ़ी और पापी के रूप में सामने आने-वाले प्रभु की हम सेवा कर सकें। करुणावश दूसरों की भलाई करना अवश्य उत्तम है, पर शिव-ज्ञान से जीव-सेवा सबसे उत्तम है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिर में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म और सम्प्रदाय का विचार किये एक दीन-हीन प्राणी में शिव को देखते हुए उसकी सेवा की है।'

यह सर्वभूतमय ईश्वर की सेवा है; उसकी सच्ची उपासना है। इसका फल है मोक्ष, अमरत्व की प्राप्ति।

सकाम सेवा निकृष्ट कोटि की सेवा है। अपनी देह की तथा अपने कुटुम्बी जनों की सेवा तो सभी करते हैं, पर अन्य दीन प्राणियों की ओर बिरला ही कोई दृष्टि उठा-कर देखता है। रहीम कवि ने इस पर अति सुन्दर भाव प्रकट करते हुए कहा है—

दीन सबन को लखत हैं, दीनहिं लखे न कोय।<br>
जो रहीम दीनहिं लखे, दीनबन्धु सम होय॥

कैसी मर्मस्पर्शी भावना है यह कवि की! इसे साकार करना प्रत्येक धर्मनिष्ठ व्यक्ति का कर्तव्य है।

निष्काम सेवा अत्यन्त महिमामयी है। इसका माहात्म्य सभी धर्म-गुरुओं ने मुक्तहृदय से स्वीकार किया है। सिक्ख गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं —

सेवा करत होय निःकामी।
ताको होत परापति स्वामी ।। सुखमनी २।१८

—'जो निष्काम भाव से सेवा करता है, उसे स्वामी (श्री हरि) की प्राप्ति हो जाती है।' कितनी ऊँची है निष्काम सेवा की महिमा! इससे मनुष्य को जीवन का परम गन्तव्य मिल जाता है।

सेवाओं में प्रधान दरिद्रनारायण की सेवा है। दरिद्र-नारायण की सेवा से भगवान् नारायण तुष्ट होते हैं। सच्चा सेवक वही है जो अन्तर्हृदय से दरिद्र प्राणियों की सेवा में तत्पर रहता है और जिसे नाम-यश की गन्ध तक नहीं लगी है। सेवक में दुर्भाग्यवश यदि कहीं नाम-यश की भावना ने प्रवेश पा लिया तो उसकी सेवा का मूल्य गिर जाता है और वह निष्फल हो जाती है। तब वह सेवा-कार्य से अधिक अपनी यश-प्रतिष्ठा की चिन्ता करने लगता है और उसकी सेवा वास्तविकता से दूर केवल ख्याति-प्राप्ति का माध्यम बनकर रह जाती है। यह सेवक की पतनावस्था है। अतः उसे नाम-यश की वासना को विष के समान त्यागकर सदा सेवा-कार्य में तत्पर रहना चाहिए।

सेवा को हमें अपनी दिन-चर्या का एक अनिवार्य अंग बना लेना चाहिए। जिस तरह हम प्रतिदिन दैनिक कार्यों की योजना बनाते हैं उसी तरह हमें प्रतिदिन सेवा-

कार्य की भी एक योजना बना लेनी चाहिए। अपने पड़ोस या नगर में कौन रोग से पीड़ित है, किसे किस वस्तु का अभाव है, किसको कौन सा दुःख है-- इन बातों की खबर लेनी चाहिए और उनके निवारण के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। प्रतिदिन कुछ समय के लिए नगर-पड़ोस में घर-घर घूमकर लोगों से सम्पर्क बढ़ाना चाहिए। गरीबों की झोपड़ियों में जाकर उनकी परिस्थितियों का निरीक्षण करना चाहिए और उन्हें सुधारने के उपाय करने चाहिए। उनके दुर्बल बच्चों को समुचित आहार देकर स्वस्थ बनाना चाहिए। उन बच्चों का रूखा और म्लान मुखमंडल जब प्राकृतिक लालिमा से खिल उठेगा तभी हमारी सेवा सफल होगी। भूखों को रोटी, नंगों को वस्त्र, अनाथों को शरण, अपढ़ों को शिक्षा और परित्यक्तों को स्नेह देकर ही हम उनकी वास्तविक सेवा कर सकते हैं। यही सेवा संवृद्ध होकर विश्व-कल्याण का रूप धारण कर लेती है।

वृक्ष अपनी छाया कभी नहीं समेटता। हवा सदा चलती रहती है। नदी का प्रवाह कभी बन्द नहीं होता। अग्नि कभी शीतल नहीं होती। सूर्य अपनी किरणों को पृथ्वी पर बिखेरकर सदैव प्रकाश-दान करता है। ये सभी प्रकृति-नटी की लीला के सहायक बनकर संयम-पूर्वक सतत सेवा-कार्य में लगे हुए हैं। हमें भी सेवा-व्रत के पवित्र अनुष्ठान में निरन्तर संलग्न रहना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण धर्म का यही सार है।

●

**प्रश्न**—मन बड़ा अस्थिर रहता है। कभी कोई बात अच्छी लगी तो उस पर मन अधिक दिन टिक नहीं पाता। विचारों में स्थिरता कैसे आये ?

**कु. स्नेह नायडू, नई दिल्ली**

**उत्तर**—मन स्वभाव से ही अस्थिर है। उसका बहाव निम्नगामी होने के कारण वह जल्दी ही किसी आदर्श पर टिक नहीं पाता। आदर्श या ऊँचे विचारों का तात्पर्य होता है ऊँचाई, और मन ऊँचाई पर टिक नहीं पाता। किसी प्रवाह को ऊर्ध्व गति देने के लिए पर्याप्त श्रम करना पड़ता है। पहले तो उसे वहीं रोकने के लिए बांध बाँधना होता है। तत्पश्चात् उसे दिशा देनी होती है। मन के विचारों के लिए बाँध बाँधना बड़ा कठिन होता है। कई बार जल का प्रवाह पूरे बांध को बहाकर ले जाता है। बाँध को मजबूत बनाने के लिए हमें उसकी नींव को मजबूत करना होता है। वैचारिक बाँध की नींव है—आदर्श के प्रति अनुराग। सर्वप्रथम हम एक आदर्श तय कर लें। सम्भव है कि मन बारम्बार इस आदर्श से फिसल

जाता हो, पर कोई हर्ज नहीं। हम पुनः पुनः मन से कहते रहें कि 'ऐ मन, भले ही तू आदर्श पर टिक नहीं पा रहा है, पर मैं तो इसी को आदर्श मानकर चलूँगा, तू कभी न कभी तो अवश्य इस पर टिकेगा।' ऐसा निश्चय मन में रखें और आदर्श की उत्कृष्टता पर मनन कर उसके प्रति अनुराग बढ़ायें। इससे हमारे विचार धारणा में परिणत होंगे। अभ्यास से यह धारणा दृढ़ होती जायगी। धारणा के दृढ़ होने से ही विचारों में स्थिरता आ पाती है।

**प्रश्न**—कुमारी सरोजबाला के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

**डा० आर. आर. जोशी, इन्दौर**

**उत्तर**—मैंने कुमारी सरोजबाला को सर्वप्रथम इन्दौर में सुना। तब उनकी आयु मात्र ९ वर्ष की थी। और तबसे मैं उनसे अत्यन्त प्रभावित हूँ। उनका जन्म १ नवम्बर १९५६ को हुआ है। उनकी अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति और असाधारण ज्ञान के दो ही स्पष्टीकरण हो सकते हैं—एक लौकिक और दूसरा अलौकिक।

लौकिक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि उन्हें सारे प्रवचन याद करा दिये गये हों। पर यह बात मुझे सम्भव नहीं मालूम पड़ती; क्योंकि जब पहली बार मैंने उनका प्रवचन इन्दौर में सन् १९६५ में सुना, तब उन्हें पढ़ना नहीं आता था। मेरे सम्पर्क में आने के पश्चात् मैं जोर देता रहा कि कम से कम हिन्दी पढ़ना-लिखना तो अवश्य सीख लेना चाहिए। अब वे पढ़ तो लेती हैं पर लिखने का अभ्यास आज भी नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि उन्हें सारे प्रवचन याद करा दिये गये हों तो मुँह-जबानी बोल-बोलकर याद कराया गया होगा। और

यदि इसी को सत्य मानें तो भी यह स्वीकार करना होगा कि उनकी मेधा अत्यन्त ही विलक्षण है कि उन्होंने सुन-सुनकर इतने सारे प्रवचन कण्ठस्थ कर लिये हैं। उनके संस्कृत के उद्धरण एक ही ग्रन्थ में सीमित न होकर गीता, भागवत, पुराण, उपनिषद्, स्मृतियाँ--इन सभी ग्रन्थों से लिये जाते हैं और विपुल मात्रा में। उसी प्रकार, प्रतीत होता है कि उन्हें समूचा रामचरित-मानस याद है। फिर, उनके प्रवचन प्रसंग के अनुकूल होते हैं। मैंने अभी तक उनके लगभग ५०-५५ प्रवचन सुने हैं और हर प्रवचन अत्यन्त प्रासंगिक और सन्दर्भपूर्ण होता है। पुनः, प्रवचन की दीर्घता भी कम नहीं होती। मैंने आधा घंटा से लेकर २। घंटे तक की लम्बाईवाले प्रवचन सुने हैं। उनके प्रत्येक प्रवचन में नवीनता होती है। फिर, गूढ़ वेदान्त-तत्त्वों का विवेचन इतना स्पष्ट और मार्मिक होता है कि अचरज होता है कि इतनी अल्प अवस्था में इन्हें वेदान्त के गूढ़ रहस्यों को समझने की बुद्धि कहाँ से आ गयी। वे अपने प्रवचनों में योग और वेदान्त के गूढ़ भागों को उठाकर जब उनका खुलासा करती हैं तब उनकी भूरि भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में, मैं यह नहीं मानता कि उन्हें प्रवचन कण्ठस्थ करा दिये गये हों।

अतएव जो दूसरा अलौकिक स्पष्टीकरण है, वही शेष रह जाता है। इसके अनुसार, उनका ज्ञान, विवेक, बुद्धि और वक्तृत्व पिछले जन्म का अर्जन कहा जा सकता है। उन पर साक्षात् सरस्वती की कृपा है और ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले जन्म का कोई बड़ा ज्ञानी और विद्वान् लोक-शिक्षा के लिए पुनः जन्म धारण कर आया हुआ है।

●

# आश्रम समाचार

(१ दिसम्बर १९६९ से २८ फरवरी १९७० तक)

## १. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

**एलोपैथी विभाग**–उपर्युक्त ३ माह की अवधि में कुल १३२५६ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें ३२४१ रोगी नये थे। इनमें ९० रोगी क्रानिक उदर-रोग से पीड़ित थे। ७८० इंजेक्शन लगाये गये। ५७ दन्त-रोगियों के दाँत निकाले गये। सर्जिकल केस–३८; आँखों के रोगी–११९; स्त्री-रोग से रुग्ण–१४७।

**होमियोपैथी विभाग** इस विभाग द्वारा २८३१ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया, जिनमें ६२५ रोगी नये थे।

## २. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

२८ फरवरी को ग्रन्थालय में १३०९७ पुस्तकें थीं तथा सदस्यों की संख्या ४४३ थी। उक्त अवधि में ४९२० पुस्तकें निर्गमित की गयीं। वाचनालय में ८६ पत्र-पत्रिकाएँ, दैनिक समाचार-पत्र आदि थे। इस अवधि में लगभग ८४०० पाठकों के वाचनालय का उपयोग किया।

## ३. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

विद्यार्थी भवन द्वारा संचालित अध्ययन वर्ग के अन्तर्गत उक्त अवधि में ७ बौद्धिक कक्षाएँ हुईं। विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं। इन प्रतियोगिताओं का पुरस्कार-वितरण विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय किया गया।

## ४. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

**साप्ताहिक सत्संग**–रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ४ और ११ जनवरी को गीता पर ७५ वाँ और ७६ वाँ प्रवचन दिया।

७, २१ दिसम्बर, १० जनवरी और २१ फरवरी को डा० अशोककुमार बोरदिया का 'पातंजल-योगसूत्र' पर २४ वाँ, २५ वाँ, २६ वाँ और २७ वाँ प्रवचन हुआ।

१४ दिसम्बर को श्री प्रेमचन्द जैस की रामायण-कथा हुई।

२८ दिसम्बर और १७ जनवरी को प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा का 'हिन्दू धर्म' पर १८ वाँ और १९ वाँ प्रवचन हुआ।

३ जनवरी को श्री सन्तोषकुमार झा का 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' पर १४ वाँ प्रवचन हुआ।

१८ जनवरी को रामकृष्ण मिशन के स्वामी विमलानन्दजी महाराज का 'Practice of Spiritual Life' पर प्रवचन हुआ।

**आश्रम में अन्य कार्यक्रम**–२२ फरवरी को गाँधी-शताब्दी वर्ष का अन्तिम दिवस था। इस उपलक्ष में एक परिसंवाद का आयोजन किया गया जिसका विषय था–'आधुनिक युग में गाँधी-दर्शन'। इस परिसंवाद की अध्यक्षता प्राचार्य सरयूकान्त झा ने की। वक्ताओं के रूप में प्राध्यापक सुधाकर गोलवलकर, प्रा० कनककुमार तिवारी, प्रा० आर. जी. भावे, प्रा० दिनेशचन्द्र त्रिपाठी, प्रा० उदयनारायण पाठक और प्रा० सुरेशचन्द्र जैन ने क्रमशः 'गाँधी और बुनियादी शिक्षा', 'गाँधी और विज्ञान', 'गाँधी और सत्याग्रह', 'गाँधी और साम्प्रदायिकता', 'गाँधी और ट्रस्टीशिप की कल्पना' तथा 'गाँधी और अहिंसा' पर अपने विचार प्रस्तुत किये।

**स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम**–३, ४, ५ और ६ दिसम्बर को स्वामीजी ने कानपुर में आयोजित अखिल भारतीय

अखण्ड प्रभा वेदान्त सम्मेलन में भाग लिया। चर्चा के विषय थे–'वेदान्त और अन्य भारतीय दर्शन', 'वेदान्त और पाश्चात्य दर्शन', 'वेदान्त और विज्ञान' तथा 'वेदान्त में ज्ञान और भक्ति का समन्वय'। सम्मेलन के अन्तिम दिन ७ दिसम्बर को कानपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री राधाकृष्ण की अध्यक्षता में 'वेदान्त और भारतीय समाज-व्यवस्था' पर एक परिगोष्ठी आयोजित की गयी जिसमें स्वामी आत्मानन्द प्रमुख अतिथि के रूप से आमन्त्रित थे।

६ दिसम्बर को अपराह्न स्वामीजी ने क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर की दर्शन-समिति का उद्घाटन किया। उसी दिन सन्ध्या वे लायन्स क्लब में आमन्त्रित हो 'वेदान्त का सामाजिक व्यवहार' इस विषय पर बोले। ७ दिसम्बर की रात्रि रामकृष्ण मिशन आश्रम, कानपुर में उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण' पर व्याख्यान दिया।

१८ दिसम्बर को भानसोज (रायपुर) में श्री घासीदास-जयन्ती का उद्घाटन। उसी दिन रात्रि महासमुन्द के उपाधि महाविद्यालय की छात्र-परिषद् का उद्घाटन। १९ दिसम्बर को मंडला में गीता-स्वाध्याय-मंडल के तत्त्वावधान में आयोजित गीता-जयन्ती-समारोह में प्रमुख अतिथि। इस समारोह की अध्यक्षता न्यायमूर्ति श्री भावे ने की। २१ से २५ दिसम्बर तक गीता-भवन, इन्दौर के गीता-जयन्ती-समारोह में भाग लिया। २३ दिसम्बर की रात्रि रामकृष्ण आश्रम, इन्दौर में 'श्रीराम-कृष्ण और श्रीमाँ' विषय पर भाषण।

१ जनवरी को बिलासपुर में 'जीवन का प्रयोजन' विषय पर व्याख्यान। ५ जनवरी को गोंदिया स्थित नटवरलाल माणिक-लाल दलाल कला-वाणिज्य-विज्ञान-विधि विद्यालय के स्नेह-सम्मेलन का उद्घाटन। ११ जनवरी को भिलाई में श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल द्वारा परिचालित अध्ययन-वर्ग के अन्तर्गत गीता-

प्रवचन। १२, १३, १४ जनवरी को आनन्द-निकेतन, नागपुर के तत्त्वावधान में मोर-भवन में क्रमशः 'मानव-जीवन का प्रयोजन', 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' विषय पर व्याख्यान। १४ जनवरी को डीएजीपीटी कर्मचारी संघ को 'नरेन्द्र से विवेकानन्द' विषय पर सम्बोधित। १५ और १६ जनवरी को ब्रह्मपुरी (चाँदा) में ३ व्याख्यान।

८ फरवरी को सरस्वती शिशु मन्दिर, रायपुर के वार्षिकोत्सव में भाग लिया। १२ फरवरी को रात्रि ९। बजे मध्यप्रदेश के सभी आकाशवाणी-केन्द्रों से अंग्रेजी वार्ता 'Religious Tolerance' का प्रसारण। १७, १८ और १९ फरवरी को बैतूल के विवेकानन्द ज्ञान मन्दिर के वार्षिकोत्सव में क्रमशः 'विश्व ऐक्य में हिन्दू धर्म का महत्त्व', 'मानव-जीवन का प्रयोजन' और 'धर्म एवं विज्ञान' विषयों पर भाषण। १८ फरवरी को सुबह करजगाँव में सर्वोदय विद्यालय में 'मानव कौन ?' इस विषय पर व्याख्यान। उसी दिन अपराह्न बैतूल महिला सम्मेलन में 'भारत में नारी का दायित्व' विषय पर चर्चा। १९ फरवरी को सुबह सारनी थरमल स्टेशन में 'शान्ति की खोज' पर भाषण। २१ फरवरी को ग्वालियर में रामकृष्ण आश्रम के तत्त्वावधान में चेम्बर आफ कामर्स हॉल में न्यायमूर्ति श्री रैना की अध्यक्षता में 'मानव-जीवन का प्रयोजन' विषय पर भाषण। २२ फरवरी को सुबह वहीं थियोसाफिकल लॉज के तत्त्वावधान में 'कर्मयोग' पर तथा सायं आश्रम में 'भक्तियोग' पर व्याख्यान। २४ फरवरी को रात्रि ८ बजे मध्यप्रदेश के समस्त आकाशवाणी-केन्द्रों से हिन्दी वार्ता 'आधुनिक युग में शान्ति की खोज' का प्रसारण। २५ फरवरी को बिलासपुर मे 'श्री ऋषि चैरिटेबिल ट्रस्ट' का उद्घाटन। २७ और २८ फरवरी को बाल-आश्रम (अनाथालय), रायपुर में कु० सरोजबाला के साथ प्रवचन।

## श्री माँ सारदा जयन्ती

३१ दिसम्बर को परमाराध्या श्री माँ सारदा का ११७ वाँ जयन्ती-महोत्सव सोल्लास मनाया गया। प्रातः ५ बजे मंगल-आरती से कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। ९ से ११॥ बजे दिन तक भजन-संगीत-कीर्तन-प्रार्थना और प्रसाद-वितरण के कार्यक्रम हुए। सन्ध्या ७ बजे एक सार्वजनिक सभा हुई जिसे स्वामी आत्मानन्द ने 'श्रीमाँ का जीवन और सन्देश' विषय पर सम्बोधित किया। इस अवसर पर भजन-गीत भी प्रस्तुत किये गये।

## विवेकानन्द जयन्ती महोत्सव

स्वामी विवेकानन्द का १०८ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम-प्रांगण में अत्यन्त धूमधाम पूर्वक २२ जनवरी से १५ फरवरी तक मनाया गया। २२ से २९ जनवरी तक माध्यमिक शाला, उच्चतर माध्यमिक शाला तथा महाविद्यालय के छात्रों और छात्राओं के लिए विभिन्न प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयी थीं। इन सभी प्रतियोगिताओं में प्रथम दो विजेता प्रतियोगियों के लिए व्यक्तिगत पुरस्कार तथा रनिंग शील्ड रखे गये थे।

३० जनवरी को स्वामी विवेकानन्द का जन्म-दिवस था। उस दिन प्रातः ५॥ से ७ बजे तक मंगल-आरती, प्रार्थना और ध्यान का कार्यक्रम था। सुबह ९॥ से ११॥ तक भजन-गीत, कीर्तन और प्रार्थना के कार्यक्रम हुए। तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण हुआ। सन्ध्या भिलाई स्टील प्लांट के जनरल मैनेजर श्री जी. जगत्पति की अध्यक्षता में एक परिसंवाद हुआ, जिसका विषय था--'श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द--भारत की एक नवीन चेतना'। इस अवसर पर जबलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डा० उदयनारायण तिवारी प्रमुख अतिथि के रूप से पधारे थे। अन्य वक्ता थे स्वामी विमलानन्दजी और स्वामी आत्मानन्द। अध्यक्ष ने समारोप

भाषण के बाद विजेता प्रतियोगियों और संस्थाओं को पुरस्कार वितरण किया।

३१ जनवरी को प्राध्यापिका कु. मीरा राव ने सुमधुर भजन-गीत प्रस्तुत किये। तत्पश्चात् डा० अरुण कुमार सेन और उनके सहयोगियों ने स्वामी विवेकानन्द पर स्वरचित गीत सुनाये तथा हिन्दी गीत रामायण का गायन किया।

१ फरवरी को स्वर्ग में राष्ट्र-निर्माता सन्त-आत्माओं का सम्मेलन हुआ, जहाँ परिगोष्ठी का विषय था—'राष्ट्र-निर्माण में मेरा योगदान'। इस सम्मेलन की अध्यक्षता स्वामी विवेकानन्द के आधार स्वामी आत्मानन्द ने की। इस सम्मेलन के प्रवक्ता सन्त-आत्मा थे—स्वामी विद्यारण्य, सन्त रामदास, गुरु गोविन्द सिंह, सुब्रह्मण्य भारती, लोकमान्य तिलक, स्वामी रामतीर्थ, भगिनी निवेदिता, योगिराज अरविन्द और महात्मा गाँधी, जिन्होंने अपने आधार के रूप में क्रमशः प्रा. लक्ष्मीकान्त शर्मा, प्रा. सुधाकर गोलवलकर, श्री संतोषकुमार झा, प्रा. व्ही. पार्थसारथी, प्रा. लक्ष्मणप्रसाद मिश्र, प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा, प्रा. निवेदिता गुप्त, डा. नरेन्द्र देव वर्मा और प्रा. कनककुमार तिवारी को चुना था। लगभग ४००० श्रोताओं ने मंत्रमुग्ध हो ४ घंटे तक चलनेवाले इस कार्यक्रम का भरपूर रस लिया।

२ से ८ फरवरी तक भारतप्रसिद्ध रामायणी पं. रामकिंकरजी उपाध्याय की रामायण-कथा हुई। श्रोताओं की भीड़ लगातार बढ़ती रही और अन्तिम दिन तो लगभग ७ हजार व्यक्ति उपस्थित थे।

९ से १२ फरवरी तक श्री विरागीजी महाराज का प्रवचन एवं कीर्तन हुआ। साथ में पं. मोहनलाल व्यास 'मानस-भ्रमर' का भी रामायण पर प्रवचन हुआ। १२ फरवरी की ब्राह्मवेला में हर वर्ष की भाँति नगर-संकीर्तन की मस्ती रही। ठीक ४॥

बजे सुबह संकीर्तन-दल आश्रम से रवाना हुआ और ७ बजे आश्रम वापस आ गया।

१३ से १५ फरवरी तक १३ वर्षीया विदुषी कु. सरोजबाला के आध्यात्मिक प्रवचन हुए। लोगों की भीड़ आश्रम में टूट पड़ी। अन्तिम दिवस आश्रम-प्रांगण १५ हजार श्रोताओं से ठसाठस भरा हुआ था।

समारोह के अवसर पर आश्रम की मन्दिर आदि नवीन योजनाओं के हेतु उदारचेता व्यक्तियों से २३१२१)१५ का दान प्राप्त हुआ। इस दान में ३०८८)६८ का प्रथम सहयोग माना कैम्प के चीफ कमांडेन्ट कर्नल एस. पी. नन्दी के माध्यम से प्राप्त हुआ, जो राशि माना कैम्प के अधिकारियों, स्टाफ और छोटे व्यापारियों से मन्दिर हेतु प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त, ३० जनवरी से १४ फरवरी तक १६ दिनों में दानपात्रों में १३८२)८० की राशि इकट्ठी हुई तथा अन्तिम दिन १५ फरवरी को दानपात्रों से २१६७)५३ प्राप्त हुए।

# रामकृष्ण मिशन समाचार

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत रामकृष्ण मठ और मिशन के विभिन्न केन्द्रों के संक्षिप्त प्रतिवेदन प्रकाशित किये जायेंगे।)

## रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दावन

### (अप्रैल १९६७ से मार्च १९६८ की रिपोर्ट)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित हो, रोगी-नारायण की सेवा करने हेतु यह केन्द्र सन् १९०७ में श्रीवृन्दावन धाम में स्थापित किया गया। यमुना के तीर पर होने के कारण बाढ़ के समय बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता था। अत: विगत दस वर्षों में मथुरा-वृन्दावन मार्ग पर एक बड़ा भूमिभाग लेकर, उस पर नये सिरे से सेवाश्रम का निर्माण किया गया है।

क्रमश: वहाँ सेवा-कार्यों का विस्तार किया जाता रहा है और आज वहाँ की गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं—

**१. अस्पताल (इनडोर)**-- इसमें १३० शय्या की व्यवस्था है। आलोच्य अवधि में २२६६ रोगियों की शुश्रूषा की गयी। इनमें से ९९५ रोगियों पर विविध शल्योपचार किये गये। यहाँ का नेत्रविभाग अपनी सेवा के लिए विशेष प्रसिद्ध है।

**२. औषधालय (आउटडोर)**--अस्पताल से जुड़े हुए इस एलोपैथिक औषधालय में १,४८,७५४ रोगियों का नि:शुल्क औषधोपचार और शल्योपचार किया गया। प्रतिदिन की औसत उपस्थिति ४०६ रही। यहाँ का भी नेत्रविभाग प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है।

**३. प्रयोगशाला**--रक्त, थूक आदि के १६,६२१ नमूनों की जाँच इस प्रयोगशाला में की गयी।

**४. एक्स-रे व विद्युत्-उपचार**—१०७३ रोगियों का एक्स-रे निकाला गया तथा २४९ रोगियों का विद्युत्-उपचार किया गया।

**५. होमियोपैथी औषधालय**--उक्त अवधि में इस विभाग द्वारा १८,४९८ रोगियों की नि:शुल्क चिकित्सा की गयी।

**६ ग्रन्थालय-वाचनालय**—सेवाश्रम की ओर से रोगियों और डाक्टरों के लिए अलग-अलग ग्रन्थालय और वाचनालय का संचालन किया जा रहा है। परन्तु दोनों ही पुस्तकालयों में अधिक पुस्तकों की आवश्यकता है। उदार मित्रों की सहायता से यह कार्य सध सकता है।

**७. रोगियों का मनोरंजन**--रोगियों के लिए रेडियो कार्यक्रम सुनने की व्यवस्था है। बीच बीच में उन्हें स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी फिल्में भी दिखायी जाती हैं।

**८. आर्तों की सहायता**--रोगियों की सेवा के अलावे इस केन्द्र द्वारा आर्तों और अभाव-पीड़ितों की विविध प्रकार से सहायता भी की जाती है। आलोच्य वर्ष में ५७ लोगों की नकद सहायता की गयी। ८७ विद्यार्थियों को पुस्तकें और कापियाँ बाँटी गयीं। कुछ साधकों को धार्मिक पुस्तकें दी गयीं। कुछ रोगियों की आर्थिक मदद भी की गयी।

कु. सरोजबाला प्रवचन करते हुए। उनके बाईं ओर हैं
विरागीजी (अस्पष्ट) और दाहिने ओर स्वामी आत्मानन्द।

विशाल जन-उपस्थिति का एक दृश्य।